भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या २७

भावी नागरिकों से

भारतीय ग्रन्थमाला ; संख्या २७

भावी नागरिकों से

लेखक

'नागरिक शिक्षा', 'अपराध चिकित्सा', आदि के

रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग

दूसरा संस्करण | सन् १९४८ ई० | मूल्य डेढ़ रुपया

समर्पण

— ० —

श्रद्धेय पंडित सुन्दरलाल जी !

आपने भारतवर्ष की आज़ादी, हिन्दू-मुसलिम एकता, सब धर्मों के समन्वय, और सब जातियों के आदमियों में भाईचारे की भावना फैलाने की भरसक कोशिश की है। अपनी पुस्तकों, लेखों, भाषणों, और इन सब से बढ़ कर अपने रहनसहन और व्यवहार से आपने कल के नागरिकों को सोचने-विचारने और अनुकरण करने की बहुत सामग्री दी है। इसलिए यह 'भावी नागरिकों से' पुस्तक आपकी सेवा में आदर और स्नेह के साथ समर्पित है।

विनीत

भगवानदास केला

विषय-सूची

———

[१]

पाठकों से

मेरा साहित्यिक जीवन अब बहुत समय का मालूम नहीं होता। मैं काफी दिन जी चुका हूँ। यों तो मैं सोचता हूँ कि आम तौर से आदमी को सौ वर्ष तक जीना चाहिए, पर हर एक व्यक्ति की कुछ अलग-अलग स्थिति भी होती है। मेरी माता जी को यह आशा न थी कि मैं इतने समय जीवित रहूँगा। मेरे सब से बड़े भाई और एकमात्र बहिन जब भरी जवानी में गुजर गए, और मैं भी बचपन में बारबार बीमार पड़ता रहा तो उन्हें मेरे बारे में बहुत चिन्ता रहने लगी। कुछ वर्ष बाद मेरे दूसरे भाई के भी, जवानी में ही, गुजर जाने पर तो उनकी, और घर के दूसरे आदमियों की, आशंका और भी बढ़ चली। लेकिन जीवन-मरण, हानि-लाभ और यश-अपयश का बहुधा ठीक अन्दाज नहीं किया जा सकता। सृष्टि की बहुत सी बातें समझ में नहीं आतीं। मेरे कितने ही रिश्तेदारों को आश्चर्य और खुशी है कि इतना रोगी और निर्बल रहकर भी मैं युवावस्था पार कर गया, और अब तो मैं अपने साधारण जीवन के पचपन वर्ष, और साहित्य-कार्य के तीस वर्ष पूरे कर रहा हूँ। इस समय दो पुस्तकें हाथ में हैं, इसलिए यह सम्भव है कि मैं आगे और भी कोई रचना पाठकों की सेवा में पेश कर सकूँ, तो भी मुझे अपने साहित्य-कार्य को समाप्त करने के लिए तैयार रहना है। जैसी कुछ परिस्थिति रही, उसमें जितना बन आया, काम किया गया; और, अब उसी से संतोष कर लेना है।*

* ये पंक्तियाँ सितम्बर १९४४ में, इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के अवसर पर लिखी गई थीं। इनके लिए कुछ मित्रों ने मेरे निराशावाद पर आपत्ति की थी। पर सच्चाई यह है कि इस समय भी इन्हें बदलना ठीक नहीं मालूम होता।

जो हो, मैं इस समय अपने प्रेमी पाठकों से कुछ बातें कर लेना चाहता हूँ। नागरिकों के बारे में जो अनुभव या विचार मेरे मन में हैं, उन्हें कह डालने की इच्छा है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान की कमी, और मानव विकास की सीमाओं के कारण यह स्वाभाविक ही है कि मैं हिन्दी भाषा में, और खासकर भारतीय नागरिकों को लक्ष्य में रखकर ही बातें करूँ। अन्यथा नागरिकता की, आदर्श नागरिकता की, कोई सीमाएँ नहीं हैं; उसमें न धर्म-भेद है, न जाति-भेद, न रंग-भेद। और, उसमें देश या राज्य का भी भेद नहीं होना चाहिए। इन भेदों ने आदमी-आदमी के बीच में बनावटी दीवारें खड़ी कर रखी हैं। हाँ, यद्यपि इस समय ये दीवारें बहुत ही मजबूत मालूम होती हैं, कुल मिला कर देखने से यह निश्चय है कि आदमी की कोशिश इन दीवारों को तोड़ने में है। कुछ महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने बहुत समय पहले इन दीवारों को तोड़ने की मिसाल पेश की थी। कुछ महानुभाव आज दिन हमारे सामने इन भेद-भावों से ऊपर उठ चुके हैं। पुराने तथा मौजूदा पथ-प्रदर्शकों या रहनुमाओं की सहायता से आगे-आगे इन भेद-भावों को दूर करने का काम अधिक जोर से हो सकेगा—ऐसी आशा है। इसी में संसार का और मानव जाति का हित है।

अपने पाठकों में, मैं सब नागरिकों को शामिल करता हूँ। नागरिक अपने जीवन में तरह-तरह के काम करते हैं। उनके काम-धंधे या पेशे के अनुसार उनके एक समूह के लिए कुछ बातें विशेष महत्व की होती हैं, दूसरे समूह के लिए दूसरी बातें अधिक विचार करने योग्य होती हैं। इसलिए कुछ खास-खास समूहों के नागरिकों से कुछ अलग-अलग बातें कही जाती हैं। सब नागरिकों का लक्ष्य एक ही होता है, सब समाज की सेवा और उन्नति करना चाहते हैं, इसलिए अलग-अलग समूहों को कही जानेवाली बातों में कोई विरोध नहीं होता, बल्कि उनमें आपस में सम्बन्ध होता है, जैसे एक माला के अलग-अलग दानों में सम्बन्ध

होता है। इसलिए एक समूह के नागरिकों के लिए अन्य समूहों के सम्बन्ध में कही गई बातों पर भी ध्यान देना उपयोगी है।

फिर, यह ज़रूरी नहीं कि एक नागरिक का कार्यक्षेत्र जन्म भर एक ही रहे। कितने ही आदमी दो-दो तीन-तीन तरह के कार्य एक-साथ करते रहते हैं। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों के लेखक की ही बात लीजिए। वह पहले अध्यापक था, और उस कार्य के साथ पुस्तक लिखने, छपाने और बेचने का कार्य भी करता था। कुछ समय सम्पादक रहते हुए ये काम किए गए। अब अध्यापक या सम्पादक आदि का कोई काम नहीं। लेखन-कार्य ही मुख्य है; पर उसके साथ प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता का काम तो लगा ही है।

अकसर यह होता है कि जब कोई आदमी कुछ काम-धन्धा शुरू करता है तो वह यह अच्छी तरह नहीं जानता कि वह किस पेशे के लिए अधिक योग्य है। उसे एक काम की कुछ बातें रुचिकर या आकर्षक मालूम होती हैं; वह उस काम को करने लग जाता है। कुछ दिन उस काम को कर चुकने पर उसका झुकाव किसी दूसरे काम की तरफ हो जाता है, और वह पहले काम को छोड़ कर इसे करने लग जाता है। सम्भव है, कुछ समय के बाद वह इस काम को भी छोड़कर तीसरा ही काम करने लग जाय। इस तरह आदमी को अपनी रुचि और योग्यता का पता एकदम नहीं लग जाता, धीरे-धीरे कुछ प्रयोग करने पर ही वह उसका निश्चय कर पाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम जान लेते हैं कि हम कौनसे काम के लिए अधिक योग्य हैं, परन्तु परिस्थिति ऐसी होती है कि हम उस काम को न कर कोई दूसरा काम करने लगते हैं, और यह प्रतीक्षा करते हैं कि कभी परिस्थिति का सुधार हो और हम अपनी पसन्द का काम कर सकें। सम्भव है थोड़े बहुत समय में परिस्थिति हमारे अनुकूल हो जाय, अथवा यह भी सम्भव है कि हमें अपनी पसन्द का काम करने [illegible] ही न आए।

इस विषय में जैसा कि आगे बताया जायगा, हमें याद रखना चाहिए कि 'सुख अपने पसन्द का काम करने में नहीं है; बल्कि जो काम हमें करना पड़ता है, उसे पसन्द करने में है।'

हमने ऊपर यह ज़िक्र किया है कि हर समूह के नागरिक के लिए कुछ बातें विशेष ध्यान देने की होती हैं। लेकिन कुछ बातें ऐसी भी हैं, जो सभी नागरिकों के लिए आवश्यक होती हैं। इस पुस्तक के अगले लेख में उन्हीं बातों का विचार किया गया है। फिर, यद्यपि एशिया और अफ्रीका के देशों के अधिकांश नागरिक अभी शिक्षा से वंचित रहते हैं, यह आशा की जाती है कि संसार में धीरे-धीरे शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, और हर नागरिक को कुछ समय विद्यार्थी-जीवन बिताने का अवसर मिलेगा, जिससे वह अपने देश के लिए, और साथ ही विश्व के लिए, अधिक योग्यता-पूर्वक अपना कर्त्तव्य पालन कर सके। इसी दृष्टि से पुस्तक का तीसरा लेख विद्यार्थी को सम्बोधन करके लिखा गया है। पूरी पुस्तक का उद्देश्य यह है कि पाठक जिस समय जिस क्षेत्र में हो, वहाँ उसके योग्य साबित हो और मानवजाति की प्रगति को आगे बढ़ाने में मदद दे।

यहाँ एक बात को साफ कर देना जरूरी है। नागरिकों के प्रत्येक काम का अपना-अपना महत्व है। किसी को अपने पेशे का चुनाव करते समय यह न समझना चाहिए कि यह पेशा दूसरे पेशों से ऊँचे दर्जे का है। पेशों को ऊँचा या नीचा बनाना बहुत कुछ नागरिकों पर निर्भर है। हर नागरिक को अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहिए, उसे अपना जीवन अच्छे से अच्छा बनाने की कोशिश करनी चाहिए। इसके लिए हमें हर घड़ी यह याद रखना ज़रूरी है कि हमारे बलिदान का उचित अवसर कौनसा है। जिस नागरिक को अपने मरने के अवसर का ज्ञान नहीं, उसे अच्छी तरह जीवित रहना भी नहीं आ सकता। मिसाल के तौर पर, जैसा श्री० रस्किन ने कहा है, बीमारी के अवसर पर

चिकित्सक के लिए अपना स्थान छोड़ने की अपेक्षा (अपना काम करते हुए वहीं) मर जाना अच्छा है, सैनिक के लिए युद्ध में अपना स्थान छोड़ने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है, धर्म-प्रचारक के लिए असत्य-प्रचार की अपेक्षा मर जाना अच्छा है, वकील के लिए अन्याय-सहन की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। इसी तरह हर एक नागरिक अपने-अपने पेशे के बारे में विचार कर सकता है।

यह पुस्तक भावी नागरिकों के लिए है। वे ही इस समय मेरी नजर के सामने हैं। उनकी ही ओर मैं आशा भरी निगाह से देख रहा हूँ। बड़ी उम्र के आदमी अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनेवाले हैं, उनमें से बहुतों ने अपनी शक्ति भर महत्वपूर्ण कार्य किया है; अगली पीढ़ी उनका गर्व और अभिमान कर सकेगी, तथा अपने हृदय में उनकी यादगार बनाएगी। तो भी अनेक आदमियों से अगर साफ-साफ बात हो तो वे यह कहे बिना न रहेंगे कि हम अपने जीवन में जिस तरह का और जितना काम करना चाहते थे, नहीं कर पाए। उनमें से कुछ तो यह भी स्वीकार करेंगे कि हमने अपनी बहुत सी शक्ति और समय ऐसे कामों में लगाया, जो हमें नहीं करने चाहिएँ थे। उन्हें अफसोस है कि अपना कार्य आरम्भ करने के समय उनके सामने अच्छा आदर्श, विशेष लक्ष्य या कुछ ऊँचे सिद्धान्त न थे। अनेक बार जिधर की लहर आगई, उधर ही जीवन-नैया बह चली। जो पानी बह गया, वह बह गया; जो समय निकल गया, वह सदा के लिए निकल गया, अब वापिस नहीं आ सकता। भावी नागरिको! तुम्हारी बात दूसरी है; तुम्हारा समय तुम्हारी शक्ति तुम्हारे अधीन है, उसे सोच-समझ कर ठीक रास्ते में लगाओ, अपना कार्यक्षेत्र सोच-विचार कर तय करो, अपने जीवन का ध्येय निश्चित करो, आँधी के झोंकों में इधर-उधर न जाओ; अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए रास्ते की सब बाधाओं का साहस-पूर्वक से सामना करो। परमात्मा तुम्हें सफल करेगा, इसका पूरा विश्वास

रखो। आशा है, आगे की पंक्तियाँ तुम्हें अपना महान उद्देश्य प्राप्त करने में सहायक होंगी।

---

[२]
प्रत्येक नागरिक से

तुम अपने गाँव या नगर की एक अनुपम विभूति हो; अपने देश की ही नहीं, संसार की एक बहुमूल्य सम्पत्ति हो। नागरिक जीवन के जिस क्षेत्र में तुम अपना समय और शक्ति लगाना चाहते हो, उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों का विचार आगे किया जायगा। यहाँ ऐसी ही बातों की चर्चा की जाती है, जो प्रत्येक दशा में आवश्यक होती है।

हम कोई काम उसी हालत में अच्छी तरह कर सकते हैं, जब हममें उसको करने की योग्यता हो—इस योग्यता में शारीरिक योग्यता का बड़ा महत्व है, या यों कह सकते हैं कि और योग्यता होते हुए भी, यदि हमारा शरीर ठीक नहीं है, हमारा स्वास्थ्य खराब है, हम बीमार पड़े हैं, तो हम उस काम को अच्छी तरह न कर सकेंगे, उसमें हमारा मन ही नहीं लगेगा। इसलिए हर एक आदमी का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपना स्वास्थ्य बनाए रखे। बीमार पड़ने पर वह अपने विविध कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकता, वह दुखी रहता है। यही नहीं, उसके भाई बन्धु आदि भी बड़ी चिन्ता में रहते हैं, उनका बहुत सा समय उसकी सेवा-सुश्रूषा करने में लग जाता है, इसलिए वे भी अपना-अपना कार्य अच्छी तरह पूरा नहीं कर पाते। जिस परिवार में कोई आदमी रोगी होता है, उसकी आमदनी कम हो जाती है, और

दवा-दारू आदि का खर्च बढ़ जाता है। इससे सभी को असुविधा होती है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वस्थ रहने का प्रयत्न करना कितना आवश्यक है।

स्वास्थ्य-रक्षा के नियम बहुत जटिल या पेचीदा नहीं हैं। आदमियों को शुद्ध, ताजा और सादा भोजन करना चाहिए; साफ, हवादार स्थान में रहना चाहिए; कुछ व्यायाम, और जितना जरूरत हो विश्राम, करते रहना चाहिए; और मन में अच्छे सात्विक विचार रखने चाहिएँ।

कुछ आदमी निर्धनता के कारण और कुछ आदमी आलस्य या शौकीनी आदि के कारण इन बातों की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि वे बीमार पड़ जाते हैं, उनका सुख नष्ट हो जाता है, तब उन्हें स्वास्थ्य का मूल्य ज्ञात होता है। इसलिए यह बहुत ही जरूरी है कि हम कोई बात ऐसी न करें जिससे हमारा स्वास्थ्य बिगड़ने की आशंका हो। स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी कुछ बातें म्युनिसिपेलिटियों या जिला-बोर्डों अथवा राज्य के करने की होती हैं, पर इन संस्थाओं को भी तो हम या हमारे ही आदमी बनाते हैं। अतः उनके द्वारा भी ठीक व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ विशेष रूप से यह कहना है कि जो बातें प्रत्येक नागरिक के अपने-अपने करने की हैं, उनमें से किसी की उपेक्षा न करनी चाहिए।

हमें अपने शरीर को निरोग, स्वस्थ और यथा सम्भव हृष्ट-पुष्ट बनाना चाहिए। परन्तु यह न सोचना चाहिए कि ऐसा करने से हमारे सब कर्तव्य पूरे हो जायँगे। नहीं, स्वास्थ्य-रक्षा हमारे कई एक कर्तव्यों में से सिर्फ एक कर्तव्य है। यह एक प्रमुख कर्तव्य है, और इसके पालन करने से हमें अपने अन्य कर्तव्यों के पालन करने में सुविधा होती है, तो भी यह याद रहना चाहिए कि स्वास्थ्य-रक्षा एक साधन मात्र है, यह स्वयं ही कोई साध्य या अन्तिम लक्ष्य नहीं है। जो आदमी दिन भर अपने शरीर की ही उन्नति करने की बात सोचता है, कुश्ती लड़कर, या खेल

कूद कर ही अपनी दिनचर्या से संतुष्ट हो जाता है, और अपने भोजन-वस्त्र आदि के लिए दूसरों का आसरा तकता है, वह आदमी समाज के लिए भार-स्वरूप है। और, परावलम्बी जीवन तो किसी काम का नहीं, इसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। हाँ, यदि कोई आदमी दूसरों को व्यायाम या कसरत आदि की शिक्षा देकर समाज की सेवा करता है और उसके एवज में समाज से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा करता है तो यह कोई अनुचित बात नहीं है।

स्वास्थ्य-रक्षा के साथ ही, हर नागरिक को शिक्षा पाने की भी कोशिश करनी चाहिए। लिखना-पढ़ना सीख लेने पर हम अपने विचार लिख कर रख सकते हैं। हमारे लेखों को पढ़ कर, दूर-दूर रहने-वाले आदमी भी हमारे विचार जान सकते हैं; और, हम उनके विचारों से परिचित हो सकते हैं। इस तरह दूर-दूर के आदमियों से हमारा सम्बन्ध हो जाता है। यही नहीं, हम उन महापुरुषों के विचार और अनुभव भी जान सकते हैं, जो पुराने जमाने में हुए थे। उनके लेखों या पुस्तकों से हम लाभ उठा सकते हैं और अपनी उन्नति कर सकते हैं। शिक्षित आदमी अपने कर्त्तव्यों का अच्छी तरह पालन कर सकते हैं, और अपनी जीवन-यात्रा शान्ति और सुख पूर्वक तय कर सकते हैं। नागरिकों को चाहिए कि अपनी सन्तान तथा भतीजे, भानजे आदि को भी शिक्षा दिलावें। हाँ, यह याद रखना आवश्यक है कि शिक्षा का अर्थ केवल लिखना-पढ़ना सीख लेना ही नहीं है, शिक्षा का अर्थ है हमारी शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक शक्तियों का विकास। अतः हमें शिक्षा का व्यापक स्वरूप ग्रहण करना चाहिए। इस विषय की विशेष बातें लिखने का यहाँ प्रसंग नहीं है। तुम स्वयं जान लोगे।

नागरिकों के अन्य कर्तव्यों में पहले स्वावलम्बन की ओर तुम्हें ध्यान देना आवश्यक है। तुम्हें समाज द्वारा पैदा या तैयार किए हुए भोजन-वस्त्र आदि की आवश्यकता होती है। इन वस्तुओं को बिना

मेहनत किए, मुफ़्त में प्राप्त करना किसी को शोभा नहीं देता। यह तो एक प्रकार की चोरी है। भिक्षा, छल-कपट या चोरी करने का तो विचार भी मन में न लाना चाहिए। दान-दक्षिणा या सहायता के रूप में दूसरों से धन या अन्य पदार्थ लेना केवल उन्हीं लोगों के लिए ठीक है, जो अपाहज या लूले लंगड़े आदि हों, अथवा जो अपना सब समय समाज-हित की बातें सोचने या करने में लगाते हैं। समाज-सेवा के बिना, दूसरों के द्वारा प्राप्त पदार्थों का उपयोग करना सर्वथा अनुचित है। हमें स्वावलम्बी बनना चाहिए। किसी आदमी का, अपने बाप-दादा आदि की कमाई खर्च करते हुए भी निखट्टू पड़े रहना ठीक नहीं। अपने निर्वाह के लिए हमें स्वयं उद्योग और पुरुषार्थ करना चाहिए।

जिस प्रकार हमें अपने जीवन-निर्वाह के लिए स्वावलम्बी बनना चाहिए, उसी प्रकार अपने परिवार तथा अपने आश्रितों के लिए भी हमें समुचित परिश्रम और उद्योग करना चाहिए। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को इतनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए कि उसके कमाए हुए धन से उसका और उसके परिवार आदि का निर्वाह होने के बाद भी कुछ बचत अवश्य रहे, जो संकट या बीमारी अथवा बेकारी आदि के समय आवे, और साथ ही उसके बड़े परिवार यानी देश की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायक हो। यह तभी हो सकता है जब हम सोच-समझ कर खर्च करनेवाले हों, मितव्ययी हों, अंधाधुंध पैसा उड़ानेवाले न हों। कारण, यदि खर्च पर नियंत्रण न रहे तो चाहे जितनी आमदनी हो, सभी खर्च हो सकती है। प्रायः देखने में आता है कि जिन लोगों की खासी अच्छी और निश्चित आमदनी है, वे क्षणिक आनन्द की वस्तुओं में पैसा खर्च कर देते हैं; पीछे अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी पदार्थों के लिए भी उनके पास धन की कमी हो जाती है, और वे कर्जदार बन जाते हैं। बड़ी-बड़ी तनख्वाह पानेवाले कितने ही

बाबू लोगों का यह हाल होता है कि तनख्वाह मिलते ही उसका अधिकांश भाग पिछले महीने के बिल चुकाने में झटपट खर्च हो जाता है। पन्द्रह-सोलह तारीख से उनकी जेब खाली दिखाई देने लगती है, किसी प्रकार जैसे तैसे चौबीस-पच्चीस तारीख तक काम चलता है, फिर तो एक-एक दिन अगले महीने की तनख्वाह की इन्तजार में बीतता है। यह सब इनकी अनसमझ का, और उधार सौदा लेने की आदत का, फल है। ये लोग चाहें तो आसानी से, अपना खर्च चला सकते हैं, और अपनी बीमारी या बेकारी आदि के संकट के अवसर के लिए कुछ पैसा जमा भी कर सकते हैं। हर आदमी को ऐसा नियम बनाना चाहिए कि कोई चीज खरीदने से पहले अपनी आर्थिक स्थिति और उस चीज की ज़रूरत का, शान्ति और गम्भीरता से विचार करे; जहाँ तक हो सके कोई चीज उधार न खरीदी जाय, चाहे वह कुछ सस्ती ही क्यों न मिलती हो।

हमारा धन सिर्फ हमारे ही उपयोग के लिए नहीं है। उस पर समाज का भी खासा अधिकार है। हमारे धन से हमारे परिवार का भी भरण-पोषण होना चाहिए, यह बात तो आदमी फिर भी आसानी से समझ सकते हैं; परन्तु हमारे धन पर समाज का भी अधिकार है, यह कैसे? मैंने परिश्रम किया, और उस परिश्रम के बदले किसी आदमी या संस्था या सरकार से मुझे कुछ धन मिल गया। अब इस धन से किसी दूसरे का क्या सम्बन्ध? मैं इसे जिस तरह चाहूँ, खर्च करूँ। इसमें कोई रोक-टोक क्यों?

किसी भी कार्य के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि मुझ में धन पैदा करने की जो शक्ति या योग्यता आदि है, वह उसी दशा में है, जबकि मुझे समाज के अनेक आदमियों का सहयोग प्राप्त हुआ है। यदि दूसरे लोगों की सहायता न मिले तो कोई भी आदमी अकेला कुछ धन पैदा नहीं कर सकता। धन पैदा करने के बाद उसकी रक्षा

या वृद्धि भी समाज के सहयोग बिना नहीं हो सकती। इसलिए धन को खर्च करने में इस बात का अवश्य विचार रहना चाहिए कि उससे समाज का हित हो। जिस समाज ने मुझे धन पैदा करने योग्य बनाया है, उसकी उपेक्षा करना अनुचित ही नहीं, हानिकारक भी है। इस लिए हर आदमी को चाहिए कि अपने धन का अधिकारी सिर्फ अपने आप को न माने, उसमें समाज का भी हिस्सा समझे और इसी दृष्टि से उसे खर्च करे।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और योग्यता उसे बहुत-कुछ समाज से प्राप्त हुई है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हमें अपनी शक्ति आदि का उपयोग समाज की उन्नति के लिए करना चाहिए। हम समाज के मौजूदा आदमियों के तो बहुत ऋणी हैं ही; यदि विचार किया जाय तो हम अपने पुरखों या पूर्वजों के भी ऋणी हैं। हमें इस समय किसी विषय का जितना ज्ञान प्राप्त है, वह इस बात पर निर्भर है कि हमारे पूर्वजों ने अपने समय में उस दिशा में कितना कार्य किया। प्रत्येक समय में आदमी अपनी पिछली पीढ़ी के अनुभवों से लाभ उठा कर काम करते हैं, और आनेवाली पीढ़ी के लिए अपने अनुभव विरासत में छोड़ जाते हैं। इस प्रकार, पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोशिश होती रहने से भौतिक या वैज्ञानिक उन्नति होती है। यही बात मानसिक जगत के सम्बन्ध में कही जा सकती है। एक पीढ़ी अपने विचार, साहित्य के रूप में छोड़ती है, उसे मनन करके अगली पीढ़ी मनुष्य जाति के भावी विकास में मदद देती है। इससे स्पष्ट है कि हमारा यह पीढ़ी, अब तक की पिछली पीढ़ियों के प्रति बहुत ऋणी है। इस परम्परा को बनाए रखने के लिए हमें भी समाज की उन्नति में भरसक सहयोग करना चाहिए। बस, हमारा धन ही नहीं, हमारी शक्ति और योग्यता, यहाँ तक कि हमारा जीवन भी मानव समाज के हित के लिए है। हमें तुच्छ खुदगरजी की जिन्दगी न बितानी चाहिए;

अथवा, यह कहना ठीक होगा कि हमारा सच्चा स्वार्थ इस बात में है कि हम समाज के लिए जीवन व्यतीत करें। हम अपने शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट बनावें, अपनी मानसिक तथा अन्य शक्तियों को बढ़ावें, लेकिन यह याद रखें कि इनका उपयोग समाज की सेवा और हित के लिए ही हो; और, हमारे द्वारा किसी को कुछ कष्ट या असुविधा न हो।

इस विषय की व्योरेवार बातों का तुम स्वयं विचार कर लोगे। नागरिकता की भावना के सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि हम दूसरों से भाई-बन्धु या पड़ोसी का सा व्यवहार करें, किसी को कुछ कष्ट न दें, उनके सुख को अपना सुख, और उनके दुख को अपना दुख समझें। यदि यह बात भली भाँति ध्यान में रखली जाय, और इसके अनुसार सब आदमी व्यवहार करें तो सामाजिक जीवन की बहुत सी असुवि-धाएँ दूर हो जायँ। पर हम लोग इसका विचार बहुत कम करते हैं। हम अपनी सुविधा, अपने सुख, और अपने लाभ की ओर दृष्टि रखते हैं। दूसरों की हम चिन्ता नहीं करते। हम ऐसी चिन्ता की आवश्य-कता ही नहीं समझते। मिसाल के तौर पर कितने ही विद्यार्थी इतने जोर से पढ़ा करते हैं कि दूसरों का ध्यान बँट जाता है, उनके अध्ययन में बाधा होती है। पर वे इसका विचार नहीं करते। रेल का टिकट खरीदते समय यदि खिड़की के पास पुलिस का सिपाही खड़ा न हो तो कितनी धक्का-मुक्की होती है। हर एक आदमी चाहता है कि दूसरों को हटा कर मैं आगे बढ़ जाऊँ। यहाँ तक कि हम बूढ़े, बालक या कम-जोर आदमी का भी कुछ लिहाज नहीं करते। फिर, जब आदमी रेल में सफर करता है, तो बहुधा शिक्षित और सभ्य कहलानेवाला व्यक्ति पाँव फैला कर लेट जाता है, और अपने सामान आदि से इतना स्थान घेर लेता है कि दूसरे मुसाफिरों को बैठने की भी जगह नहीं मिलता। वह देखता है कि उसके कितने ही भाई खड़े हैं, और कष्ट पा रहे हैं,

पर वह स्वयं अपनी इच्छा से उनके लिए जगह की व्यवस्था नहीं करता। हमारे यहाँ कोई त्योहार या विवाह-शादी है तो हम यह कब सोचते हैं कि हमारी धूम-धाम और गाजे-बाजे से हमारे पड़ोसियों को कोई कष्ट तो नहीं होता! प्रायः रात को बारह और एक-दो बजे तक शोरगुल होता रहता है, और बेचारे पड़ोसियों की नींद हराम हो जाती है। कभी-कभी हमारे पड़ोस में कोई आदमी बीमार होता है, उसे वैसे ही नींद नहीं आती, फिर हमारे गाजेबाजे से उसको कितना कष्ट होगा, इसका सहज ही विचार किया जा सकता है। कुछ घरों में खास-खास अवसरों पर 'रतजगा' होता. है, औरतें रात भर जागती और गीत गाती रहती हैं। चाहे ऐसी बात किसी रीति-रस्म के नाम पर की जाय, या धार्मिक कृत्य की आड़ में; नागरिकता की दृष्टि से, और हाँ, मानवता के विचार से, यह सर्वथा निन्दनीय और त्याज्य है। हमें सोचना चाहिए कि रात विश्राम के लिए है। इस लिए कुछ घंटे तो शोरगुल बन्द रहे। अच्छा हो, यदि नागरिक रात के बारह बजे से सबेरे के चार बजे तक सब कोलाहल बन्द रखा करें, और ऐसी बात के लिए सरकारी कानून की प्रतीक्षा न करें, अपनी इच्छा से ही इसकी व्यवस्था करें। इसी प्रकार अन्य बातों का विचार किया जाना चाहिए।

राज्य के प्रति तुम्हारे कर्त्तव्यों के बारे में यहाँ ज्यादा लिखना नहीं है। केवल एक बात की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना आवश्यक है तुम्हें समय-समय पर किसी विषय पर मत देने का प्रसंग आएगा। तुम्हें चाहिए कि मताधिकार का महत्व समझो, और इस अधिकार का सोच-समझ कर ठीक उपयोग करो। तुमने हमारी 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक पढ़ी होगी। व्यवस्थापक अर्थात् कानून बनाने वाली सभा, म्युनिसपेलटी या जिला-बोर्ड के आदि के कार्य में, तथा इन संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव में मत देना कितने महत्व और उत्तरदायित्व का कार्य है, यह तुम भली भाँति जानते ही होगे। इसका ध्यान

रखते हुए तुम्हें अपना मत बहुत सोच-समझ कर देना चाहिए। तुम चाहे निर्वाचक हो, या किसी संस्था के सदस्य हो, किसी विषय में अपना मत देने से पूर्व खूब विचार कर लेना चाहिए। किसी की मित्रता या रिश्तेदारी का लिहाज न करना चाहिए, और न किसी भय या प्रलोभन में ही आना चाहिए। जो कुछ तुम्हारी आत्मा या विवेक-बुद्धि कहे, उसके अनुसार स्वतंत्रता और निर्भीकता पूर्वक मत देकर अपने नागरिक उत्तरदायित्व को पूरा करते रहना चाहिए।

अन्त में एक बात की ओर तुम्हारा ध्यान और भी आकर्षित करना है। तुम जानते हो कि हमारा आदर्श विश्व-नागरिक बनना है, दूसरों के हितों और स्वार्थों का लिहाज रखते हुए हमें पृथ्वी भर के विशाल राज्य का उपभोग करना है। इस लिए हमारे व्यवहार में पारिवारिक हित से उच्च स्थान ग्राम या नगर आदि के स्थानीय हित को, और स्थानीय हित से उच्च स्थान राष्ट्रीय हित को, तथा राष्ट्रीय हित से भी उच्च स्थान मानव या विश्व-हित को दिया जाना चाहिए। ऐसा दृष्टि-कोण रखने से ही विशाल मानव समाज सुख-शान्ति का आनन्द ले सकता है।

यह विश्व कैसा मनोहर है; इसमें नाना प्रकार के प्राकृतिक दृश्य हैं; बन, उपबन, नदी, पहाड़ और जंगल हैं; रंग-बिरंगे छोटे-बड़े भाँति-भांति के पशु-पक्षी हैं। इस संसार को सुखमय बनाओ। यहाँ जो दुख है, वह प्रायः हमारी अदूरदर्शिता, क्षुद्रता, स्वार्थ आदि के कारण है। परमात्मा ने हमें सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए बनाया है, हम अपने अज्ञान से दुख पा रहे हैं। हम चारों ओर सुख की खोज में फिरते हैं, और अन्त में असफल हो रहते हैं। परन्तु यह स्वाभाविक ही है। हम सुख की खोज बाहर के पदार्थों में करते हैं, जहाँ कि वह है नहीं। सुख का केन्द्र हमारा हृदय है। हमारे विचार सात्विक और प्रेम-पूर्ण होंगे तो सुख स्वयमेव हमारे अधीन रहेगा।

और, जब भावी नागरिक स्वयं सुखी होंगे तो वे दूसरों को भी सुखी कर सकेंगे।

महान जीवन-यात्रा के महान पथिक! तुम अपने जीवन में किसी भी क्षेत्र में कार्य करो, ऊपर लिखी बातों को ध्यान में रखो, तुम निस्सन्देह सफल होगे।
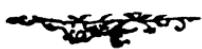
[३]
विद्यार्थी से

———

प्रिय युवक! तुम इन दिनों स्कूल में पढ़ रहे हो, अनेक बातों की शिक्षा प्राप्त कर रहे हो। आदमी के जीवन का यह समय कितने महत्व का होता है, इस बात को हम प्रायः अपने विद्यार्थी-काल में नहीं समझ पाते। पीछे बड़े होने पर हम अपने उन दिनों को याद किया करते हैं। क्या ही अच्छा हो, हम पुनः विद्यार्थी-जीवन आरम्भ कर सकें; जो भूलें हमने पहले की थीं, उन्हें अब न करेंगे, अपने समय का ठीक-ठीक उपयोग करेंगे, अच्छी आदतें डालेंगे, अपने भावी जीवन के लिए खूब तैयारी करेंगे। परन्तु यह बातें तो होनेवाली नहीं। जो समय निकल गया, वह निकल ही गया; सदा के लिए निकल गया। हमारे हज़ार चाहने पर भी वह नहीं लौटेगा, उसका पश्चाताप करना व्यर्थ है। बड़ी उम्र के आदमी यही कर सकते हैं कि उनके जीवन का जो समय अभी शेष है, उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करें। यह सौभाग्य तो युवकों को ही प्राप्त है कि वे अपने आप को चाहे जैसे साँचे में ढाल सकते हैं, उनके पास वह समय है, जिसमें आनेवाले जीवन की तैयारी की जाती है। वे अपने शरीर, अपने मन और अपनी आत्मा का ऐसा

विकास कर सकते हैं, जो उनके लिए तो सुखकारी हो ही, समाज के लिए भी बहुत कल्याणकारी हो।

इस लिए, हे युवक! भली भाँति सोच लो। अब तो यह बहुमूल्य समय बहुत बड़े परिमाण में तुम्हारे पास है, पर धीरे-धरे यह निकलता जा रहा है। तुम्हारी बेपरवाही से यह ऐसे ढंग से न खर्च हो जाय कि पीछे तुम्हें इसका पश्चाताप करना पड़े। यह मत समझो कि हमारे पास तो अनन्त समय है, कुछ थोड़ा-सा समय व्यर्थ चला जायगा तो क्या हर्ज है। थोड़े-थोड़े मिनट करके घंटा समाप्त हो जाता है, एक-एक घंटा करके दिन निकल जाते हैं। और, दिनों के ही तो महीने और वर्ष बनते हैं। अवश्य ही तुम उस आदमी को मूर्ख और अनसमझ कहोगे जो अपनी थैली में से हर मिनट एक-एक पैसा यों ही गँवा देता है, उसका ठीक उपयोग नहीं करता। तुम जानते हो कि एक-एक पैसा करके वह सभी द्रव्य उड़ जायगा, बस पैसों से कहीं अधिक मूल्यवान अपने जीवन के मिनटों और घंटों को सावधानी से, सोच-समझ कर, किफायत से खर्च करो। यह ठीक है कि जीवन का सब समय खर्च करने के ही लिए है, और वह खर्च होगा; परन्तु वह इस तरह खर्च न होना चाहिए कि हमें उसका पता ही न हो वह अनावश्यक और अनुपयोगी बातों में निकल जाय।

इसका उपाय यह है कि आज से ही तुम अपनी डायरी या रोजनामचा रखना शुरू करदो, और उसमें अपने समय का हिसाब ऐसा ही नियम-पूर्वक लिखो, जैसे कोई मुनीम या रोकड़िया (एकाउंटेंट) रुपए-पैसे का हिसाब लिखता है। प्रति दिन सबेरे ही उठ कर शौच-स्नान आदि से निपट कर पहला काम यह करो कि दिन भर में किए जाने वाले आवश्यक कामों का विचार करो, और यह भी सोच लो कि कौनसा काम किस-किस समय करना ठीक होगा। अब, अपने दिन अनावश्यक बातों में गँवा देते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। छुट्टी का

दिन भी हमारे जीवन के बहुमूल्य दिनों में से है, उसका भी उपयोग हमारे शारीरिक, मानसिक या नैतिक विकास के लिए होना चाहिए। उस दिन भी हमारा समय इस प्रकार व्यतीत न होना चाहिए कि हमारी सवेरे उठने और नियम-पूर्वक कार्य करने आदि की अच्छी आदत में विकार पैदा हो।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, तुम्हारे लिए समय-विभाग का कोई स्थायी नक्शा नहीं बनाया जा सकता, तथापि जाड़े की मौसम में, जब कि स्कूल खुला हो और दस बजे से चार बजे तक पढ़ाई होती हो, नीचे लिखा नमूना तुम्हारा सहायक हो सकता है। अपनी परिस्थिति और आवश्कता के अनुसार तुम इसमें परिवर्तन कर सकते हो :—

४॥ से ५	उठना, मुंह धोना, दातौन या मंजन करना, शौच जाना, दिन का समय-विभाग बनाना।
५ से ६	अध्ययन या पढ़ना।
६ से ७	भ्रमण या व्यायामादि तथा स्नान।
७ से ८॥	अध्ययन।
८॥ से १०	भोजन, स्कूल जाने की तैयारी करके दस बजे से कुछ पहले स्कूल में पहूँचना।
१० से ४	स्कूल।
४ से ५	विश्राम, शौच, जलपान, अन्य आवश्यक कार्य।
५ से ६॥	भोजन, भ्रमण आदि।
६॥ से ९	अध्ययन।
९ से ९।	डायरी लिखना। अगले दिन के लिए आवश्यक कार्य नोट करना।
९। से ९॥	शान्ति; मन को विश्राम।
९॥ से ४॥	सोना।

दूसरी ऋतुओं में, तथा छुट्टी के दिन समय-विभाग स्वभावतः इस से भिन्न होगा। अस्तु, जिस प्रकार यह आवश्यक है कि प्रति दिन प्रातःकाल दिन भर के समय के खर्च का अनुमान-पत्र बनाया जाय, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि दिन का कार्य समाप्त करते समय यह विचार किया जाय कि कहाँ तक अनुमान-पत्र के अनुसार व्यवहार किया गया है; और, यदि हम उससे हटे हैं, तो हमारा ऐसा करना कहाँ तक आवश्यक था। जहाँ हमारी बेपरवाही से निर्धारित दिनचर्या की कुछ अवहेलना हुई हो, उस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, जिससे भविष्य में ऐसी त्रुटि न हो। सोने से पहले का अन्तिम कार्य डायरी लिखना रखा गया है, इसमें भूल न होनी चाहिए। जितने समय अध्ययन किया गया हो, उसका उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट करना चाहिए कि किस विषय की कौनसी पुस्तक पढ़ी गई है। इससे तुम्हें यह विचार करने का अवसर मिलेगा कि सब पाठ्य विषयों पर आवश्यकतानुसार ध्यान दिया गया है, या नहीं। यदि तुम दिन में किसी खास मित्र या रिश्तेदार आदि से मिले हो और उससे किसी महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा हुई है तो वह भी नोट कर लेना चाहिए। इसी प्रकार उस दिन में कोई विशेष घटना हुई हो या तुम्हारे मन में कोई खास विचार आया हो तो उसकी भी याददाश्त रख लेनी चाहिए। कालान्तर में डायरी के ये पृष्ठ तुम्हें बहुत लाभकारी होंगे, ये तुम्हारे आत्मसुधार का मार्ग प्रशस्त करेंगे। तुम्हारी डायरी लिखने की जो आदत इस समय पड़ जायगी, उसका बनाए रखना भविष्य में भी तुम्हारे लिए बहुत शिक्षाप्रद होगा।

ऊपर दिए हुए समय-विभाग में एक बात की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना है। सोने से पहले डायरी लिखना आवश्यक है, परन्तु उसके बाद मन को शान्ति हो। ऐसा न होना चाहिए कि सोते समय तुम्हारे मन में अगले दिन के काम की बहुत चिन्ता रहे। आवश्यकता

इस बात की है, कि जब तुम सोने लगो उस समय निश्चिन्त और प्रसन्न रहो। मन में शुभ और शान्तिदायक विचार रहें। अपने सामने उच्च आदर्श रखो। जिस महापुरुष का जीवन और कार्य तुम्हें सबसे अधिक पसन्द हो, उसका चिन्तन करो, और मन में ऐसा विचार करो कि तुम भी ऐसे ही सद्गुणी और परोपकारी बनोगे। निश्चय रखो कि ऐसा करने से, कुछ समय बाद तुम्हारी बहुत मानसिक उन्नति हो जायगी। जैसा तुम्हारा आदर्श होगा, उसके अनुरूप ही तुम्हारे मन की स्थिति में परिवर्तन होगा। उसी दशा में तुम आगे बढ़ते जाओगे। इस प्रकार तुम अपने सुन्दर भविष्य को बनाने में महत्वपूर्ण योग दोगे।

ऊपर डायरी लिखने की बात कही गई है। तुम्हें इसकी आदत अवश्य डाल लेनी चाहिए। इसमें कोई विघ्न आए तो घबराओ नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है कि आरम्भ में जब हम डायरी लिखने लगते हैं तो मालूम होता है कि हमारा आज के दिन का बहुत-सा भाग व्यर्थ चला गया, हम बहुत देर गपशप करते रहे या अनावश्यक कार्यों में लगे रहे। इन बातों को डायरी में लिखने की रुचि नहीं होती। हम सोचते हैं कि आज की डायरी न लिखें, कल से लिखना आरम्भ करेंगे। अगले दिन भी कुछ ऐसी बात हो जाती है। फिर डायरी लिखने की रुचि नहीं होती। यह नीति अच्छी नहीं; इस हिचकिचाहट को मन से निकाल देना चाहिए। यदि आज का दिन हमने इस प्रकार नहीं बिताया, जैसा उसे बिताया जाना चाहिए था तो यह बहुत बुरी बात है, पर भविष्य में इसके सुधार का उपाय तो यही है कि हम आज की व्योरेवार बातें नोट करलें, जिससे हम इन पर भली भाँति विचार कर सकें और पीछे कभी ऐसा न होने दें।

अच्छे चरित्र-निर्माण के लिए डायरी लिखना बहुत उत्तम साधन है। यह एक स्वयं-शिक्षक का काम देती है। यह बताती है कि हम

कैसे मित्रों की संगति में रहते हैं। जीवन में हमेशा ही सत्संग की बड़ी जरूरत है; युवावस्था में तो इसकी बहुत ही आवश्यकता होती है; कारण, इस समय मन पर जो संस्कार पड़ जाते हैं। वे प्रायः जन्म भर बने रहते हैं; उनका मिटाना बहुत कठिन होता है। इसलिए इस विषय में बहुत सतर्क रहना चाहिए कि हमारे संगी-साथी कैसे हैं; हम पाठ्य-पुस्तकों को छोड़कर जो अतिरिक्त पुस्तकें पढ़ते हैं, वे किस प्रकार की हैं। इन पुस्तकों का चुनाव करने में विद्यर्थियों को अपने अध्यापकों के परामर्श से लाभ उठाना चाहिए। अस्तु, जब तुम अपनी डायरी में यह लिखने लगोगे कि तुम किस-किस मित्र के साथ रहे हो, कैसी-कैसी पुस्तकें पढ़ते हो, और तुम्हारे मन में विशेषरूप से किस-किस प्रकार के विचार आते हैं तो धीरे-धीरे तुम स्वयं इस विषय में सावधान रहने लग जाओगे, सत्संगति में ही रहोगे और सद्विचार-पूर्ण साहित्य का ही अवलोकन किया करोगे।

इस बात पर अलग जोर देने की आवश्यकता नहीं कि विद्यार्थी को मेहनती होना चाहिए। डायरी लिखनेवाला विद्यार्थी स्वयं ही परिश्रमी होगा। वह नियमित रूप से कार्य करेगा, वह छुट्टी के दिनों को व्यर्थ नहीं गँवाएगा, और वह अपना बहुत सा कार्य साल के अन्तिम दिनों के वास्ते नहीं छोड़ेगा, जबकि परीक्षा नजदीक होगी। अच्छे विद्यार्थी के लिए इस बात से कोई अन्तर नहीं आना चाहिए कि परीक्षा नजदीक है या दूर। उसे तो हर रोज अपना काम ठीक रीति से करते रहना है, जिससे परीक्षा के दिनों में बहुत चिन्ता न हो, और अत्यधिक परिश्रम करके स्वास्थ्य को आघात न पहुँचाना पड़े। होनहार युवक के लिए वार्षिक परीक्षा ही सब कुछ नहीं है। तुम्हें अपने प्रत्येक कर्तव्य की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि तुम अपने समय का, खूब सोच-समझ कर, उपयोग करते हो, उसका कोई भी भाग व्यर्थ नहीं जाने देते तो तुम अपने जीवन की महान परीक्षा की तैयारी कर रहे हो, जिसकी

तुलना में तुम्हारी, स्कूल में होनेवाली वार्षिक परीक्षा बहुत मामूली चीज है।

नियमानुसार कार्य करनेवाला विद्यार्थी अपनी वार्षिक परीक्षाओं में सहज ही उत्तीर्ण हो जाता है। परन्तु केवल परीक्षा पास कर लेना और प्रमाणपत्र या उपाधिपत्र प्राप्त करलेना ही शिक्षा का ध्येय नहीं समझा जाना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य व्यापक है, उसके द्वारा हमारे शरीर, मन एवं आत्मा का समुचित विकास होना चाहिए। आजकल मानसिक उन्नति की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता है, और उसका भी ढङ्ग ठीक नहीं। अधिकांश विद्यार्थी वास्तव में परीक्षार्थी होते हैं। वे किसी तरह परीक्षा में उत्तीर्ण होने के इच्छुक होते हैं, इसलिए वे सहायक पुस्तकों, कुञ्जी सारांश या 'नोट्स' (टीकाओं) आदि में से कुछ खास-खास बातें कंठ कर लेते हैं, और प्रश्नपत्रों का उत्तर इस ढङ्ग से देते हैं जिससे परीक्षक के मन पर उनके ज्ञान की छाप पड़ जाय और वह इन्हें पास कर दे। ज्योंही परीक्षा समाप्त होती है, ये 'विद्यार्थी' अपना कंठ किया हुआ अधिकांश विषय भूल जाते हैं। वास्तव में विद्यार्थी वह है, जो ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक है, जो हर जगह से ज्ञान का संचय करता है, और वह इसलिए नहीं कि उसे इस ज्ञान का प्रदर्शन करके नाम या यश पाना है, वरन् इसलिए कि वह इसका उपयोग अपने उत्थान के लिए, और समाज-सेवा के लिए करेगा।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए आजकल पुस्तकों का ही विशेष उपयोग किया जाता है। यह ठीक है कि पुस्तकों में ज्ञान का बड़ा भंडार संचित है, और हमें उससे समुचित लाभ उठाना चाहिए। परन्तु केवल पुस्तकों को ही ज्ञान का साधन मानना भूल है। प्रकृति ने चारों ओर ज्ञान-ग्रन्थ फैला रखे हैं, सूर्य, चन्द्र, तारे, पशु, पक्षी, नदी, पहाड़, जङ्गल—सर्वत्र अध्ययन करने की अनेक वस्तुएँ मौजूद हैं। इनकी ओर आँखें बन्द किए रहना और हरदम किताब का कीड़ा बने रहना मनुष्य की नासमझी

है। प्रकृति से ज्ञान प्राप्त करने में स्वास्थ्य का इस प्रकार बलिदान करना नहीं पड़ता जैसे दिन-रात पुस्तकों में लगे रहने से करना पड़ता है; वरन् इससे शरीर को आवश्यक व्यायाम और आनन्द मिलता है। असल में ज़रूरत इस बात की है कि विद्यार्थी प्रकृति और पुस्तक दोनों का ही अध्ययन करे; तभी उसे यथेष्ट लाभ होगा।

तुम प्रायः देखते होगे कि कितने ही विद्यार्थियों को उनके माता पिता समय-समय पर 'जेब खर्च' को पैसे देते रहते हैं। वे विद्यार्थी इन पैसों से बाजार में मिठाई या चाट-पकौड़ी आदि खाते हैं, या कभी-कभी सिनेमा आदि देखते हैं। होस्टल (बोर्डिंग हाउस) में रहनेवाले तो खूब मनमाना खर्च करते हैं। उन्हें कुछ परवा नहीं होती; जितना जी में आया, घर से खर्च मँगा लिया। विद्यार्थी न तो अपने घर की परिस्थिति का विचार करते हैं और न मितव्ययिता या किफायत से काम लेने का ही। वे एक दूसरे की देखा-देखी कितना ही अनावश्यक खर्च कर डालते हैं। किफायत से खर्च करके प्रायः विद्यार्थी 'गरीब घर का' कहलाना पसन्द नहीं करते। आशा है, तुम ऐसे नहीं होगे। गरीब घर के होने में तुम्हें कोई अपमान का अनुभव न करके, गर्व का अनुभव करना चाहिए। तुम्हें जो पैसा मिले, उसे खूब सोच-समझ कर खर्च करो; जहाँ अनावश्यक प्रतीत हो, वहाँ कदापि खर्च न करो। सम्भव है, इससे तुम्हारे सहपाठी तुम्हारा मजाक उड़ावें। पर तुम में इतना आत्मबल होना चाहिए कि तुम उस उपहास के कारण अपने सुनिश्चित मार्ग से विचलित न हो। यदि कभी तुम्हारे पास कुछ पैसे जमा हो जायँ, और तुम अपने किसी निर्धन बन्धु की कुछ सहायता कर सको तो ऐसे अवसर से कदापि न चूको। यदि तुम विद्यार्थी-जीवन में छोटे-छोटे कार्य करने की भावना रखोगे, तो जब परमात्मा तुम्हें अधिक समर्थ करेगा तो उस समय तुम बड़े-बड़े कार्यों में भी योग दे सकोगे।

धीरे-धीरे वह समय नजदीक आ रहा है, जब तुम एक बड़े समाज

के सम्पर्क में आओगे, और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के बहुत से व्यक्तियों से तुम्हारा सम्बन्ध होगा। पर इस समय भी तुम्हारा एक समाज तो है ही; हाँ, वह बहुत छोटा है। इस समाज में विशेषतया तुम्हारे माता-पिता, गुरु, सहपाठी और भाई-बहिन आदि मुख्य हैं। इस समाज के प्रति तुम्हारा व्यवहार कैसा होना चाहिए? तुम्हें अपने माता पिता की भरसक सेवा-सुश्रूषा करके उन्हें सुखी और संतुष्ट करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। उनकी आज्ञाओं का पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य ही है; हाँ, यदि उनकी कोई आज्ञा या आदेश ऐसा है जिसका तुम्हें नीति-विरुद्ध होने का पूर्ण विश्वास है, और जिसे तुम्हारी आत्मा मान्य नहीं करती तो बात दूसरी है; उसका तुम्हें विरोध करना होगा, परन्तु ऐसा करते हुए भी उनके प्रति तुम्हें आदर और भक्ति बनाई रखनी चाहिए। यही नीति तुम्हें अपने अध्यापकों के प्रति बर्तनी है। वे तुम्हारे पथप्रदर्शक हैं, उनसे तुम्हें यथेष्ट परामर्श लेना चाहिए। कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर साधारणतया उनकी आज्ञा का पालन करने में तुम्हें गर्व अनुभव करना चाहिए। याद रखो कि जो व्यक्ति आज्ञापालन में कच्चे रहते हैं, वे कभी अच्छे आज्ञा देनेवाले भी नहीं बनते।

सहपाठियों में सब से साधारण प्रेम का व्यवहार रहना चाहिए; उनमें से अपने विशेष मित्रों का चुनाव करने में काफी सावधानी से काम लो। सत्संगति के विषय में ऊपर कहा चुका है। तुम्हारे मित्र ऐसे ही व्यक्ति हों, जो तुम्हारे उत्थान में सहायक हों, या जिनकी तुम कुछ सेवा-सहायता कर सको। ऐसे दोस्तों से बचो, जो गपशप में तुम्हारा समय नष्ट करनेवाले हों, तुम्हें विलासिता, शौकीनी और फजूलखर्ची की बात में फँसाने वाले हों। यदि कोई ऐसा प्रसंग आजाय कि तुम्हारे मित्र किसी अनुचित कार्य में भाग ले रहे हों, और तुम्हारे कहने पर भी कुमार्ग से न हटते हों तो तुम मित्रता के लिहाज से उनके साथी मत बनो, वरन् उनसे अलग रहकर अपने आत्मबल का परिचय दो, चाहे

ऐसा करने से तुम उनके अप्रिय ही बनो। तुम्हारे छोटे भाई बहिन आदि हर समय तुम्हारे प्रेम के अधिकारी हैं। तुम उन्हें जितना आराम पहुँचा सको, और जितनी अच्छी बातें सिखा सको, उसमें कसर न रखो! परमात्मा करे तुम अपने इस छोटे से समाज के प्रति यथेष्ट कर्तव्य पालन करो, जिससे बड़े होने पर तुम अपने बड़े समाज के प्रति अपना कर्तव्य और उत्तरदायित्व अच्छी तरह निभा सको।

प्यारे विद्यार्थी! गरीब देश में शिक्षा पाना भी बड़े सौभाग्य की बात है। तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो इस ऊँची क्लास तक पहुँच सके हो। तुम्हारे जिले के अधिकांश युवक और कन्याएँ उच्च शिक्षा से वंचित हैं, खास कर इस लिए कि उन्हें पढ़ने की आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। तुम्हारे माता पिता और संरक्षक यह आशा करते हैं कि शिक्षा पाकर तुम योग्य, गुणवान, स्वावलम्बी—एक शब्द में, अच्छे नागरिक बनोगे। तुम्हारे रिश्तेदार, तुम्हारे पड़ोसी और तुम्हारे अध्यापक भी तुमसे ऐसी ही आशा रखते हैं। तुम्हारे गाँव और जिले के आदमी, तुम्हारी भारत माता, नहीं-नहीं; मनुष्य मात्र तुम से बड़ी बड़ी आशाएँ करते हैं। तुम्हें इस आशा की पूर्ति करने का ध्यान होगा। तुम्हें हर समय अपने उद्देश्य का विचार रखना चाहिए। यों तो तुम विद्यार्थी-जीवन में भी बालचर (स्काउट) के रूप में अपने निकट-वर्ती बंधुओं की बहुत सेवा कर सकते हो, और सम्भवतः तुम करते भी होगे—तथापि तुम्हें इस बात की तैयारी करनी चाहिए कि तुम अधिक से अधिक सेवा करने योग्य बन सको। तुम एक यात्रा तय कर रहे हो। अपने लक्ष्य-स्थान का ध्यान रखो। तुम्हारे मार्ग में आरामतलबी, विला-सिता, शौकीनी, व्यसन और प्रलोभन आदि के रूप में विविध बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। सावधान! ऐसा न हो कि तुम मार्ग-भ्रष्ट हो जाओ। और हाँ, तुम्हारा लक्ष्य भी काफी ऊँचा होना चाहिए। तुम्हारा इरादा यही नहीं रहना चाहिए कि पढ़-लिख कर मजे से रहेंगे। तुम

विचार करो कि तुम्हें क्या बनना है। अपने देश के अविद्यांधकार को मिटाने में सहायक होने के लिए अध्यापक बनोगे, साहित्य-भंडार की पूर्ति के वास्ते लेखक या कवि का कर्तव्य पालन करोगे, लोगों का रोगों से पिण्ड छुड़ाने के लिए डाक्टर या वैद्य बनोगे ? निश्चय करो कि कृषि, शिल्प या व्यापार--कुछ भी करो, तुम मानव जाति के एक सच्चे सेवक बनोगे।

प्रत्येक पेशा या धंधा करते समय कुछ बातों को ध्यान में रखना जरूरी है, तभी तुम अपना जीवन अपने लिए और समाज के लिए अधिक उपयोगी बना सकोगे। उन बातों का विचार आगे किया जायगा। यहाँ यह कहना है कि अभी हर देश में समाज की और राज्य की दशा ऐसी नहीं कि सब नागरिकों को अपनी-अपनी इच्छानुसार काम मिल सके। पहले तो आदमियों को यह ज्ञान जल्दी नहीं होता कि वे किस कार्य के लिए अधिक योग्य हैं। और, जब वे यह जान भी जाते हैं तो उन्हें प्रायः उसको करने के लिए आवश्यक साधन या सुविधाएँ नहीं मिलतीं। उदाहरणार्थ एक युवक ने डाक्टर होने का विचार किया, और इस उद्देश्य से विज्ञान का अध्ययन भी किया। परन्तु कई वर्ष तक डाक्टरी की शिक्षा पाने के लिए उसके पास धन का अभाव हुआ तो उस बेचारे के मन की बात मन में ही रह गई। अब उसे कोई दूसरा धंधा करने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जिसके लिए उसकी रुचि या योग्यता बहुत ही कम है। इस दशा में यह स्पष्ट ही है कि इस युवक की योग्यता का पूरा विकास नहीं हो सकेगा, और समाज को उससे जितना लाभ होना चाहिए, उतना नही पहुँच सकेगा। असल में राज्य का कर्तव्य है कि ऐसा होने की नौबत न आने दे। वह लड़के-लड़कियों की शिक्षा की पूरी व्यवस्था करे, और जिस कार्य के लिए विद्यार्थी की रुचि या योग्यता जान पड़े, उसे वही कार्य करने का अवसर दे।

यह आदर्श की बात है; शायद बहुत सुधार होने पर भी कुछ राज्यों में थोड़े-बहुत युवक ऐसे रहेंगे ही, जिन्हें अपनी इच्छा या रुचि के अनुसार काम न मिले; वे कोई स्वतंत्र रोजगार करना चाहें, और करनी पड़े उन्हें नौकरी; अथवा, वे करना चाहें लेखक का काम, पर उस कार्य में आमदनी कम होने की आशंका से वे करने लगें वकालत या और कोई धंधा। ऐसी दशा में साधारण आदमी को बहुत बुरा लगेगा, वह अपने आपको गलत जगह पर रखा हुआ समझेगा, उसकी प्रसन्नता जाती रहेगी और उसका जीवन बड़ा नीरस हो जायगा। परन्तु इससे क्या लाभ! आदमी को चाहिए कि जिन बातों में सुधार की आवश्यकता हो, उनमें सुधार करने का पूरा प्रयत्न करे, परन्तु जब तक सुधार न हो तब तक उसे प्रसन्नता-पूर्वक सहन करे। अन्त में, मैं तुम्हारा ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूँ कि 'सुख अपने पसन्द का काम करने में नहीं है, बल्कि जो काम हमें करना पड़ता है, उसे पसन्द करने में है।' आशा है, तुम इस बात को हमेशा याद रखोगे और अपना जीवन सुखी और उपयोगी बनाओगे।

---

[४]

अध्यापक बननेवाले से

तुमने अपने लिए अध्यापक का कार्य पसन्द किया है। अच्छी बात है। कार्य बहुत उच्च तथा पवित्र है। यों तो अपनी-अपनी जगह सभी कार्यों का महत्व है, तथापि उस कार्य के गौरव का क्या कहना, जो मानव संतान को स्वस्थ रहना, एक-दूसरे से अच्छी तरह बात-व्यवहार करना, परस्पर में सहानुभूति रखना, अपनी प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य उत्पन्न करना, अपने सङ्गठन को सर्वहितकारी बनाना, आदि सिखाता हो।

कुम्हार साधारण मिट्टी से सुन्दर मूर्ति का निर्माण करता है और अध्यापक का कार्य साधारण बालकों के विकास में सहायक होकर उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाना है; एक प्रकार से नर को नारायण बनाना है। कितने महत्व का कार्य है यह ! परन्तु कितने कम अध्यापक अपने इस महान उत्तरदायित्व को समझते और अनुभव करते हैं।

प्राय: अध्यापक यह समझते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान और ज्ञानवान हैं, तथा जो बालक हमारे पास शिक्षा ग्रहण करने आते हैं, वे मूर्ख या ज्ञान-शून्य हैं, हमें उनको पाठ्य पुस्तकें कण्ठ कराकर उनके दिमाग में बहुत-सा ज्ञान ठूस-ठूस कर भरना है; यदि बालक इस ज्ञान को जल्दी ग्रहण नहीं करते तो हम डंडे के जोर से इस कार्य को आसानी से करा सकते हैं, डराकर, धमकाकर, बहलाकर, फुसलाकर हम उन्हें ऐसा बना देंगे कि परीक्षा के समय वे अपना ज्ञान काफी परिमाण में उगल सकें और न केवल परीक्षा में पास हों बल्कि अच्छे नम्बरों से, प्रथम श्रेणी में, उत्तीर्ण हों। जिस अध्यापक के सबसे अधिक विद्यार्थी पास होते हैं, और अच्छी श्रेणी में पास होते हैं, वह सबसे अधिक कुशल और अनुभवी समझा जाता है, उससे निरीक्षक (इन्स्पेक्टर) प्रसन्न होते हैं, उसकी 'सर्विस बुक' में अच्छी सम्मति लिखी जाती है और उसे अधिक पुरस्कार दिया जाता है, अथवा उसकी वेतन जल्दी बढ़ने की आशा होती है। आजकल प्राय: विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड देने का नियम नहीं रहा है, परन्तु अपनी सफलता का प्रमाणपत्र पाने के उत्सुक अनेक अध्यापक अपने इस रामबाण का उपयोग करने से चूकते नहीं। अपने मस्तिष्क के बल से उन्होंने बालकों पर आतङ्क जमाए रखने के अनेक विचित्र-विचित्र उपाय निकाल रखे हैं।

अध्यापकों के इस क्रूर व्यवहार के कारण बालकों के लिए पाठशाला एक जेलखाना या कसाईखाना होती है, जहाँ जाने का वे भरसक विरोध करते हैं, और जिससे मुक्त रहने के लिए वे तरह-तरह के

बहाने बनाया करते हैं। और आखिर, जब उनके मा-बाप उन्हें वहाँ जाने के लिए बाध्य करते हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है कि और बातों में मा-बाप इतना प्यार करते हुए भी इस क्रूर कर्म में क्यों सहायक होते हैं। पाठशाला में पहुँचने तक बालक खूब रोता चिल्लाता है, और छुटकारा पाने के लिए हाथ-पाँव मारता है, परन्तु यह सब करने पर भी जब वहाँ पहुँचा ही दिया जाता है तो वह किसी तरह अपने आपको इस नई दुनिया के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है; जहाँ उसकी हँसी-खेल के लिए कोई अवसर नहीं, जहाँ उसे अपनी सब बालोचित भावनाएँ और उमंगे दबा कर कठोर अनुशासन में रहना होता है, और अनिच्छा-पूर्वक पुस्तक अपने सामने रख कर यह प्रकट करना है कि उसका मन पढ़ने-लिखने में लगा है।

अध्यापकों के लिए यह बहुत विचारणीय है कि उनके कठोर व्यवहार से अनेक बालकों के उमंगी जीवन का अधिकांश भाग बहुत नीरस और उत्साह-शून्य बीतता है। कितने ही बालक तो पाठशाला के वातावरण से ऐसे घबरा जाते हैं कि वे पढ़ना-लिखना छोड़ बैठते हैं। यदि कुछ वर्ष पीछे उनकी पढ़ने की इच्छा भी होती है तो उपयुक्त समय निकल जाने के कारण उन्हें अपनी इच्छा पूरी करने में यथेष्ट सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार देश में अशिक्षितों की संख्या का उत्तरदायित्व एक अंश तक अध्यापकों पर है। यदि वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें, बालकों की भावनाओं और उमंगों को समझें, और उन्हें हँसी और विनोद में ही आवश्यक बातें बतलाया करें, वे उनके शासक या नियंत्रक न होकर उनके साथी होने का प्रयत्न करें तो बालक पाठशाला को कैदखाना न समझ कर अपने घर जैसा समझें, और वहाँ खुशी-खुशी आवें। इससे उनकी भावनाओं का अनुचित दमन न होकर सुन्दर विकास होगा।

अध्यापक को समझ लेना चाहिए कि शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं

है कि बालकों के दिमाग में कुछ बातें जबरदस्ती ठूस दी जायँ। शिक्षा का वास्तविक हेतु यह है कि उन्हें अपने भावी जीवन के लिए तैयार किया जाय, जिससे वे आनन्द-पूर्वक रहें और वे अपनी शक्तियों या योग्यताओं का विकास करते हुए समाज के लिए भरसक उपयोगी बनें। जो बालक आज पाठशाला में बेंच या टाट पर बैठकर वर्णमाला और गिनती सीख रहा है, वह पीछे बड़ा होगा, परिवार या राष्ट्र की अनेक समस्याएँ उसके सामने होंगी, नागरिक जीवन में अनेक कार्यों में उसे भाग लेना होगा। इसलिए आवश्यकता है कि उसे दी जानेवाली शिक्षा उसे इस क्षेत्र में सहायक हो। उच्च शिक्षा पाने का अवसर या सुविधाएँ हर किसी को नहीं मिलतीं। अधिकतर विद्यार्थी प्रारम्भिक शिक्षा से ही संतोष करते हैं, या करने पर बाध्य होते हैं। इस लिए प्रारम्भिक पाठशालाओं के अध्यापक ही अधिक-से-अधिक भावी नागरिकों के सम्पर्क में आते और उनका हित साधन कर सकते हैं। फिर, बाल्य अवस्था में बालकों का मन बड़ा कोमल होता है, उस पर जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे प्रायः जीवन भर बने रहते हैं। इस लिए भी प्रारम्भिक पाठशालाओं के अध्यापकों का उत्तरदायित्व विशेष है। यदि बालकों के माता-पिता भी इस ओर ध्यान दें तो अध्यापकों का कार्य बहुत सरल हो जाय; पर दुर्भाग्य से अधिकांश माता पिता अपने बालकों को सुयोग्य नागरिक बनाने में कुछ सहायक नहीं होते, इससे अध्यापकों को अकेले ही सब कार्य-भार उठाना पड़ता है। जहाँ तक बने, उन्हें उठाना चाहिए।

अध्यापक को चाहिए कि बालकों की केवल मानसिक उन्नति करने से ही संतुष्ट न हो। जब कि शिक्षा का उद्देश्य बालक को भावी जीवन के लिए तैयार करना है तो अध्यापक के कर्तव्य का क्षेत्र बहुत व्यापक होना स्वयं सिद्ध है। मिसाल के तौर पर; उसे चाहिए कि बालकों के स्वास्थ्य-सुधार के लिए भी भरसक प्रयत्न करे। वह उनका

ध्यान इस ओर बराबर दिलाता रहे कि वे समय पर सोएँ और समय पर उठें; उठकर हाथ-मुँह धोएँ, दातौन या मंजन करें, स्नान करें, साफ कपड़े पहनें। वे समय पर अपने नाखून कटवालें, और हजामत बनवावें। अध्यापक बालकों को खाने-पीने के विषय में भी आवश्यक बातें बतलाता रहे; वह उनको ऐसी आदत डाल दे कि वे खेल के समय खेलें और काम के समय काम करें। अध्यापक विद्यार्थियों को यह भी सिखाए कि उन्हें एक दूसरे के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए—बालक अपने-अपने स्थान पर शान्ति से बैठें, व्यर्थ शोर न मचावें; बिना पूछे किसी की चीज न लें और जब कोई चीज़ लें तो उसका काम हो चुकने पर उसे जल्दी लौटा दें; अपनी बात के पक्के हों, जो वादा करें, उसे पूरी तरह निभावें। वे सत्य बोलें किसी से छल-कपट का बर्ताव न करें। उनके अपने हिस्से में जितनी चीज़ आवे, उसी में वे सन्तोष करें, अधिक लोभ न करें। अपने से छोटों को किसी प्रकार का कष्ट न दें वरन् जहाँ तक बन आवे, सब की सहायता करने के लिए तैयार रहें। वे पाठशाला में पाठशाला के नियमों का पालन करें; खेल के मैदान में खेल कूद के नियमों का ध्यान रखें। ये छोटी-छोटी बातें बचपन में सहज ही सिखाई जा सकती हैं, और इनका चरित्र-निर्माण में बड़ा भाग होता है।

अध्यापक का एक कार्य यह भी है कि विद्यार्थियों को सड़क के नियम अच्छी तरह समझा दें, जिससे उन्हें रास्ता चलने में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े, तथा वे दूसरों के लिए भी कठिनाई पैदा करनेवाले न हों। सड़क का एक नियम है कि अपने बाईं ओर चलो, चौराहे को पार करते समय विशेष सावधान रहो। जब अध्यापक विद्यार्थियों को ऐसे नियमों के पालन करने का अभ्यास करा देगा तो सार्वजनिक रास्तों पर होनेवाली अनेक दुर्घटनाएँ रुक जायँगी। अध्यापक को चाहिए कि बड़ी उमर के विद्यार्थियों को यथासम्भव सेवा-कार्य करने की शिक्षा दे। उदाहरण के लिए यदि कोई छोटा बालक रास्ता

भटक गया है तो विद्यार्थी ठीक रास्ता बताए, और हो सके तो उसे उसके घर पहुँचा दे। यदि कोई यात्री या मजदूर अपनी गठरी उठाने में असमर्थ प्रतीत होता है तो विद्यार्थी उसकी सहायता करें। ये बातें पाठविधि में शामिल न होते हुए भी नागरिक शिक्षा की आवश्यक अंग हैं, और अध्यापक को इनकी ओर वैसा ही ध्यान देना चाहिए, जैसा वह उन बातों की ओर देना आवश्यक समझता है जो उसे शिक्षा-विभाग के नियमों के अनुसार करनी होती है।

बड़े विद्यार्थियों का ध्यान धीरे-धीरे गाँव या नगर के सामूहिक कार्यों और समस्याओं की ओर भी दिलाया जाना चाहिए। जब कभी कोई सार्वजनिक मेला या उत्सव आदि हो तो बड़े विद्यार्थी उसमें अपनी-अपनी शक्ति अनुसार स्वयंसेवक के रूप में भाग लें। कोई टोली खोए हुए बालकों का पता लगाने का काम करे, कोई टोली जगह-जगह लोगों को पानी पिलाने आदि का प्रबन्ध करे, कोई टोली अपने ऊपर सफाई और सुव्यवस्था रखने का भार ले। ज्यों-ज्यों विद्यार्थी बड़े होते जायँ, वे ग्राम-पंचायत, जिला-बोर्ड और म्युनिसिपेलिटी आदि की विविध कमेटियों के कार्यों से परिचित कराए जायँ और प्रदर्शनों द्वारा उन्हें मताधिकार का महत्व समझाया जाय। जब विद्यार्थियों को प्रारम्भिक पाठशालाओं में ही नागरिकता की मोटी-मोटी बातों की शिक्षा मिल जायगी तो उनकी बुनियाद बहुत मजबूत होगी और वे भविष्य में देश और समाज के सुयोग्य नागरिक बनेंगे। पर यह बहुत कुछ उन अध्यापकों के उद्योग पर निर्भर है, जो इन पाठशालाओं में शिक्षा देने का महान कार्य करते हैं।

अध्यापकों को चाहिए कि विद्यार्थियों के लिए भाषा की शिक्षा को आवश्यकता से अधिक महत्व न दें। शिक्षा का केन्द्र दस्तकारियाँ होनी चाहिएँ, जिससे बालकों को अपने हाथ, आँख आदि कर्मेन्द्रियों को काम में लाने का अवसर मिले; उदाहरण के लिए, मिट्टी के खिलौने

बनाना, चित्र खींचना, कागज के पट्ठे के बक्स बनाना। विद्यार्थियों को सूत कातना, पौधे लगाना, घर की सजावट करना आदि कार्यों का अभ्यास कराया जा सकता है, जिससे वे शारीरिक श्रम में रुचि रखें और बड़े होने पर उसका आदर करते हुए स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करनेवाले बनें।

जो अध्यापक तन-मन से अपने विद्यार्थियों को सुयोग्य नागरिक बनाने में लगे हुए हैं, वे धन्य हैं। उनका जन्म सफल है। संसारी आदमी उनकी कीमत भले ही न समझें, साधारण वेतन पाने वाले होने के कारण समाज में उनकी मान-प्रतिष्ठा चाहे यथेष्ट न हो, उनका हृदय जानता है और प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति जान सकता है कि वे एक महान यज्ञ के लिए अपनी सेवाएँ अर्पण कर रहे हैं, वे सुन्दर भविष्य के आह्वान में लगे हुए हैं। वे अभिवन्दनीय है।

याद रहे कि नागरिकता एक व्यावहारिक विषय है। विद्यार्थियों को इसकी केवल मौखिक या किताबी शिक्षा देने से काम न चलेगा। उनके सामने तो अध्यापक द्वारा इसके क्रियात्मक दृष्टान्त और उदाहरणों के नमूने रखे जाने चाहिएँ। अध्यापक महाशय अपनी बोलचाल और बात-व्यवहार से नागरिकता की शिक्षा दें। यदि उनमें कर्तव्य-पालन की समुचित भावना नहीं, वे समय की पाबन्दी नहीं करते, अपने करने के काम दूसरों के भरोसे छोड़ते हैं, स्वावलम्बी, सादगी-पसन्द, निरहंकारी नहीं हैं तो विद्यार्थियों में ऐसे गुणों की आशा नहीं की जानी चाहिए। अध्यापक विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण करना चाहता है तो उसे स्वयं अपने आचरण और व्यवहार पर समुचित ध्यान देना चाहिए। छोटी उम्र के विद्यार्थियों में अनुकरण की प्रवृत्ति विशेष होती है, उनकी उन्नति के अभिलाषी अध्यापक को यह बात कदापि न भूलनी चाहिए। अध्यापक को अपने अवकाश के समय में विद्यार्थियों के माता-पिता या संरक्षकों के सम्पर्क में आना चाहिए, गाँव की सफाई आदि में सहयोग

देना चाहिए, बीमारी फैलने के अवसर पर जनता को दवाइयाँ बाँटनी चाहिएँ; लोगों में मेलजोल बढ़े और वे आपस में प्रेम से रहें, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। यदि कहीं कोई झगड़ा हो तो लोगों को समझा-बुझाकर उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जनता की सेवा करते हुए अध्यापक को सार्वजनिक और उपयोगी कार्यों में अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिए। इससे विद्यार्थियों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और उन्हें असली शिक्षा मिलेगी। आशा है, तुम इन बातों का ध्यान रखोगे।

---

[५]

प्रोफेसर बननेवाले से

तुम विश्वविद्यालय में 'लेक्चरार' (व्याख्याता) का कार्य कर चुके हो और अब प्रोफेसर बननेवाले हो। तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें तुम्हारे आदर्श और व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखूं। तुम तो स्वयं बहुत विद्वान हो, और तुमने कई देशों के पुराने ज़माने के तथा इस समय के महापुरुषों के लेख और ग्रन्थ पढ़े हैं। खैर, तुम्हारी इच्छा है तो मैं अपने कुछ विचार तुम्हारे सामने रखता हूँ।

तुमने स्थान-स्थान से ज्ञान का संचय किया है, उसका तुम्हारे जीवन में उपयोग होना चाहिए, और वह तुम्हारे दूसरे बन्धुओं के काम आना चाहिए। तुम जानते हो कि नदियाँ अपना जल स्वयं नहीं पीतीं, और वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खा लेते, सज्जनों की शक्ति और योग्यता दूसरों की सेवा और उपकार के लिए होती है। तुम से आशा की जाती है कि तुम अपने ज्ञान का उपयोग लोक-कल्याण में करोगे।

शायद तुम कहो कि मैं तो सदा ही यूनिवर्सिटी में विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करता रहता हूँ। परन्तु क्या वहाँ के नपे-तुले घंटों में उतना सा ही कार्य करने से तुम्हारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है, जिसके लिए तुम्हें काफी वेतन मिलता है; और हाँ, जनता की आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए तो यह कहना चाहिए कि तुम्हें काफी से कहीं अधिक मिलता है ! तनिक विचार तो करो कि तुम दिन भर में केवल दो तीन घंटे, सप्ताह में औसतन चार पाँच दिन, और साल में ऐसे आठ-नौ महीने ही तो कार्य करते हो, और तनख्वाह पाते हो पूरे तीन सौ पैंसठ दिन की। यह भी तुमसे छिपा नहीं कि तुम्हारी तनख्वाह का अधिकांश भाग सार्वजनिक करों से वसूल किया जाता है; जिसका अर्थ यह है कि गरीब-से-गरीब आदमी, गौणरूप से ही सही, तुम्हारी तनख्वाह जुटाने में योग देता है। ऐसी दशा में क्या तुम्हारे ज्ञान का उपयोग केवल उन मुट्ठी भर युवकों के लिए ही सीमित रहे, जो खूब काफी खर्च करने में समर्थ होने पर ही तुम्हारी क्लास में बैठने के अधिकारी हो पाते हैं। तुम्हारे ज्ञान की किरणें यूनिवर्सिटी के तुम्हारे कमरे की दीवारों में बन्द क्यों रहें ! ज्ञानवान मनुष्य स्वयं एक चलती-फिरती शिक्षा-संस्था होता है। क्या तुम अपने निर्धन भाइयों के लिए एक छोटी सी विद्यापीठ का काम न दोगे !

क्या तुम्हें कभी जनता के नजदीक आने और उनसे सम्बन्ध जोड़ने की भी इच्छा होती है ! क्या खेतों और खलिहानों में, मैदानों और वृक्षों की छाया में बैठनेवाले व्यक्ति तुम्हारे उपदेशों से वंचित ही रहेंगे ! क्या तुम उनकी रोजमर्रा की समस्याओं पर ध्यान देना उचित नहीं समझते ? तुम्हें तो जटिल सिद्धान्तों के, मस्तिष्क को थकानेवाली बातों के, सूक्ष्म वादविवाद में ही आनन्द आता है; उससे ही तुम विद्वान समझे जाते हो, और उसी के लिए यूनिवर्सिटी तुम्हें सम्मान और द्रव्य देती है। तुम कहोगे कि मैं कभी-कभी किसी पत्र-पत्रिका

में लेख ऐसे विषय पर और ऐसी भाषा में भी लिखता हूँ, जो साधारण पढ़े-लिखे आदमी समझ सकें। यह ठीक है कि तुम्हारे कितने ही साथी इन बातों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते, इसलिए तुम उनसे कुछ अच्छे हो। परन्तु क्या इससे तुम्हें अपने कार्य पर संतोष या गर्व होना उचित है ? अगर तुम अपने लेखों का कोई पारिश्रमिक आदि न लेते हो तो भी तुम्हारा यह कार्य विराट शून्य में एक कण के समान है, सोलह आने में आध आने या पाव आने के भी बराबर नहीं।

मैं यह भूलता नहीं हूँ कि तुमने राष्ट्र-भाषा में कई उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, उससे साहित्य-जगत में तुम्हारा खूब नाम हो रहा है। परन्तु तुम अपने मन में यह भली भाँति जानते हो, और तुम्हारे कितने ही प्रशंसकों के लिए भी यह एक खुला रहस्य है कि तुम्हारे नाम से प्रकाशित होनेवाले साहित्य में तुम्हारा श्रम नाममात्र का है। तुमने अपने योग्य शिष्यों या निर्धन लेखकों को कुछ विषय सुझा दिया, उन्होंने मेहनत करके मसविदा बनाया। तुमने उसमें कुछ सुधार संशोधन आदि कर दिया और मूल लेखक को कुछ दे-दिला कर इस बात पर खुश कर लिया कि पुस्तक पर तुम्हारा नाम अवश्य रहे, चाहे मूल लेखक का रहे या न रहे। निदान, साहित्य-संसार में तुम्हें जो सस्ती ख्याति मिली हुई है, उससे, कम-से-कम तुम्हें तो धोखे में नहीं आना चाहिए। तुम्हें अपनी साहित्य-सेवा का वास्तविक मूल्य आँकना चाहिए, और अपने जीवन को अधिक लोकोपयोगी बनाने की बात पर गंभीरता-पूर्वक सोचना चाहिए।

अब एक और बात लें। तुमने बड़े-बड़े दार्शनिकों के ग्रन्थों का अवलोकन किया है, तुमने धर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया है। समता, स्वाधीनता और भाईचारे की बात तुम प्रायः कहते रहते हो। तुम विश्वबंधुत्व का उपदेश देनेवाले हो। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि के भेदभाव की तो बात ही क्या, तुम तो प्राणी मात्र से प्रेमभाव

रखने की चर्चा किया करते हो। क्या ये बातें केवल बाहरी क्रियाएँ हैं, या वास्तव में तुम्हारे हृदय की अन्दरूनी भावनाएँ हैं? अपने रोजमर्रा के व्यवहार में तुम अन्य धर्मावलम्बियों को क्या स्थान देते हो? जब तुम ईश्वर का गुणगान (पूजा-पाठ) आदि करते हो, उस समय यदि कोई ऐसे आदमी तुम्हारे पास आना चाहें जो ईश्वर को खुदा या 'गाड' कहते हैं, और मोहम्मद या ईसा मसीह को प्रधान अवतार मानते हैं तो तुम उनका स्वागत किस प्रकार करते हो? तुम उन्हें अपने पूज्य पिता परमात्मा की सन्तान न मान कर, किसी दूसरे पिता की संतान तो नहीं मानते? क्या तुम्हारा भगवान उनके खुदा या 'गाड' से जुदा है? तुम आदमियों में ऊँच-नीच का भेद-भाव मानते हुए और अनेक बन्धुओं को हमेशा के लिए अछूत समझते हुए भी समदर्शी होने का दावा करते हो!

तुम जानते हो, पहले केवल चार जातियाँ थीं, और इनमें आपस में काफी घनिष्ठता थी; पीछे, ये एक-दूसरे से जुदा हो चलीं, और इनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते अब हजारों पर पहुँच गई। तुम इस बात को देश या समाज के लिए बहुत अनिष्टकर समझते हो। परन्तु क्या तुम अपने सामाजिक व्यवहार से इस अनिष्ट को कुछ घटाने के लिए सच्चे दिल से प्रयत्नशील हो? क्या तुम्हारे जीवन का यह ध्येय नहीं होना चाहिए कि जिस बात के बुरे होने में तुम्हें पूर्ण विश्वास हो, उसे दूर करने के लिए तुम तन-मन-धन से प्रयत्न करो और इस संसार को जैसा यह तुमको मिला है, उसकी अपेक्षा इसे कुछ-न-कुछ अच्छा छोड़ने के लिए कटिबद्ध हो। मुझे तो ऐसा दीखता है कि जाति पाँति के भेद भावों की वृद्धि को रोकने के बजाय तुम उन्हें बढ़ाने में ही सहायक हो रहे हो। तुम्हारा क्लब या गोष्टी का जीवन क्या कह रहा है? उस क्लब के सदस्य तुम्हारे जैसे विद्वान कहे जानेवाले ही होते हैं। तुम शिक्षित समझे जानेवालों से ही सम्बन्ध रखते हो, उनके ही साथ बैठते

उठते हो। जनसाधारण को गँवार समझकर तुम उनके सम्पर्क से दूर रहते हो। तुम्हारी दुनिया अलग ही है, जिसे तुम अशिक्षित मनुष्यों से कहीं ऊँची समझते हो। तुम पढ़े-लिखों और अनपढ़ों के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न नहीं करते; और शिक्षितों को अलग जाति बनानेवाले हो।

क्षमा करना; अपना धन खर्च करने में तुम ऐसा ही व्यवहार करते हो, जैसा कोई कंजूस या अनुदार पूंजीपति। एक सेठ साहूकार समझता है कि जो धन मैंने कमाया है, वह मेरी मेहनत या बुद्धि का फल है (चाहे वह धन समाज की अस्वाभाविक स्थिति से या उसके छल-कपट अथवा चालबाजी से ही क्यों न मिला हो); इसलिए उस पर एकमात्र मेरा अधिकार है, उसे मैं चाहे जिस तरह खर्च करूँ। वह उस धन में से कुछ थोड़ा सा रुपया दान-धर्म या सार्वजनिक काम में इसलिए खर्च कर देता है कि यार-दोस्तों में अच्छा दीखे, या आदमी उसको धार्मिक मनोवृत्ति वाला समझें। प्रोफेसर साहब! क्या तुम भी, सिद्धान्त से न सही, व्यवहार में उस साहूकार की ही तरह नहीं हो? क्या तुम अपनी सम्पत्ति को जनता की धरोहर मानते हो? क्या तुम उस पर अपना और अपनी सन्तान का ही अधिकार नहीं मानते? तो फिर तुममें और एक सेठ में क्या अन्तर रहा? वह समाज में धन के असमान वितरण से होनेवाली हानियों पर कभी गहरा विचार नहीं करता; शायद ऐसा करने की उसमें योग्यता नहीं है। और, तुम तो इस विषय के प्रकांड विद्वान हो। फिर भी ऐसा क्यों?

तुम्हारे भाषणों की खूब धूम मची हुई है। हर वर्ष तुम्हारी क्लब की ओर से जो वसन्त-व्याख्यान-माला होती है, उसके वक्ताओं में तुम्हारा विशेष स्थान है। तुमने गत वर्ष 'सादा जीवन और उच्च विचार, विषय पर बोलते हुए सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कैसे उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था! तुम्हारी बातों को सुनकर

प्राचीन ऋषि-मुनियों की याद आगई, और मालूम हुआ कि संसार के कष्ट-निवारण के लिए रामबाण औषधि हाथ लग गई। अफसोस! तुम्हारा भाषण श्रोताओं के लिए थोड़ी देर का मनबहलाव ही रहा। और, इससे अधिक यह हो भी क्या सकता था! तुम्हारे संदेश या योजना में तुम्हारे मस्तिष्क का कौशल और बुद्धि का चमत्कार ही तो था; उसमें हृदय या अन्तरात्मा से निकले भाव न थे, जो त्यागी और अनुभवी महानुभाव की ही देन होते हैं। जिस आदमी की बँधी हुई काफी आमदनी हो, जिसने बहुत धन जोड़ लिया हो, जिसकी पूँजी क्रमशः बढ़ती जा रही हो, उसके लिए ऐसी बातें बनाना वाणी-विलास ही तो है। इसमें लगता ही क्या है! जो आदमी सचमुच सादे जीवन का प्रचार करना चाहता हो, उसे निजी सम्पत्ति रखने और उसे निरंतर बढ़ाने की चिन्ता क्यों होनी चाहिए!

सर्वसाधारण को 'सादा जीवन और उच्च विचार' का उपदेश देने की क्षमता ऐसे महानुभावों में ही हो सकती है, जो सिद्धान्त के खातिर सर्वस्व होम कर दें, जो गौतम बुद्ध की तरह संसार-सेवा के हित राजपाट को लात मार कर वैराग्य का जीवन बिताने के लिए कटिबद्ध हों। ऐसे आचार्यों के एक-एक शब्द में जीवन होता है, और शक्ति होती है। उनके वाक्य हृदय से निकलते हैं, और जनता के हृदयों पर अपना गहरा प्रभाव डालते हैं। परमात्मा करे, तुम 'सादा जीवन और उच्च विचार' के केवल व्याख्यान या लेक्चर देनेवाले न हो, बल्कि उस आदर्श के अनुसार अपना जीवन बितानेवाले हो। जो तुम कहो; वैसा ही तुम्हारा व्यवहार और आचरण हो, और तुम्हारे ज्ञान का प्रकाश केवल कुछ थोड़े से धनवानों या समर्थ लोगों तक परिमित न रह कर सर्व-साधारण तक फैले, जैसे सूर्य की किरणों से निर्धन; अनाथ और असमर्थ आदमियों के घरों में भी उजाला होता है।

———

[६]

किसान बननेवाले से

—०—

मुझे यह जान कर बहुत प्रसन्नता हुई कि तुम अपनी पढ़ाई समाप्त करके अब गाँव में रहने और खेती के काम में ही लगने की सोच रहे हो। आजकल गाँवों के अधिकांश युवक जब कुछ पढ़-लिख जाते हैं, गाँव में रहना पसन्द नहीं करते वे किसी सरकारी नौकरी की खोज में रहते हैं; और जब वह नहीं मिलती तो कोई ग़ैर-सरकारी नौकरी प्राप्त करने को भी बड़ा सौभाग्य समझते हैं। ये नौकरियाँ अकसर शहरों में ही मिलती हैं, और शहरों में जीवन व्यतीत करना ही तो हमारे युवकों की बड़ी मनोकामना रहती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता होता है कि जो आदमी कुछ शिक्षा पाए होता है, वह शहर का बन जाता है। हमारे गाँव शिक्षितों से वंचित रहते हैं। इसी प्रकार जिसके पास दो पैसे हो जाते हैं, वह भी अपने विविध शौक या राग-रंग की पूर्ति के लिए शहर का ही निवास पसन्द करता है। इस प्रकार हमारे गाँवों से शिक्षा और धन की इतनी अधिक निकासी होती रहती है कि स्वयं उनके पास प्रायः कुछ नहीं रहने पाता। ऐसी दशा में जो युवक शिक्षा पाकर गाँव में ही रहते और वहाँ के सामूहिक जीवन में योग देते हैं, वे धन्य हैं। इससे हमें ग्राम-सुधार की आशा होती है, और हमारा देश तो अधिकांश में गाँवों का ही है। अतः तुम्हारे ग्राम-निवास के निश्चय में देश के सुन्दर भविष्य की झलक दिखाई पड़ती है।

तुम कृषि-कार्य करना चाहते हो। आह! किसान का जीवन कितने

तप और त्याग का जीवन है। वह कितना आदरणीय और पूजनीय है! हिन्दुओं की धारणा है कि इस सृष्टि का पालन पोषण ब्रह्मा करता है। ब्रह्मा का थोड़ा बहुत प्रतिनिधित्व करनेवाला इस संसार में हम किसी को कह सकते हैं, तो अवश्य ही वह पद किसान को देना होगा, जो राजा और रंक के लिए, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, और पारसी आदि सब धर्म वालों के लिए, गोरे काले पीले आदि सब रंग वालों के लिए, पुरुषों और स्त्रियों के लिए, नहीं-नहीं, पशुओं और पक्षियों के लिए भी खाने के तरह-तरह के पदार्थ पैदा करता है; जो सबका अन्नदाता है; जो अपना लोकसेवा का कर्त्तव्य पालन करने में विलक्षण सहिष्णुता और बलिदान के भाव का परिचय देता है। श्री० पूर्णसिंहजी ने क्या खूब लिखा है—"किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है।"†

आह! हमारे किसानों का जीवन कैसा दयनीय हो गया है। वे देश भर के आदमियों—सेठ साहूकारों तथा उच्च अधिकारियों तक के लिए अन्नदाता होकर भी अत्यन्त निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें अपने निर्वाह के लिए यथेष्ट भोजन-वस्त्र का भी अभाव रहता है, वे अपने स्वास्थ्य-रक्षा के साधनों से वंचित रहते हैं, फिर उनके बालकों की शिक्षा आदि की व्यवस्था की तो बात ही क्या! विशेष दुख की बात तो यह है कि किसान अपने उत्थान के विषय में सर्वथा निराश हो चला है, उसे यह विश्वास ही नहीं रहा कि उसकी दशा में कभी कुछ सुधार हो सकेगा। वह समझता है कि जिस प्रकार

† 'हिन्दी निबन्ध माला' (२)—नागरी प्रचारणी सभा, काशी।

मैंने निर्धन, रोगी, अशिक्षित और ऋण-ग्रस्त घर में जन्म लिया है, मैं भी अपने बालकों को विरासत में अज्ञान, गरीबी और कर्जदारी ही छोड़ सकूंगा। उसकी दृष्टि में उसका भाग्य सदा के लिए स्थिर किया जा चुका है। वह सुधार की कल्पना ही नहीं करता। उसको पता नहीं कि पिछले वर्षों में संसार में परिवर्तन की लहर कैसे वेग से आई है, और भारतवर्ष अब स्वाधीन होगया है। किसान के भी दिन अब फिरनेवाले हैं। मैं चाहता हूँ, तुम्हारा रहनसहन, तुम्हारा व्यवहार, तुम्हारी कार्य-कुशलता से गाँव के आदमियों को नवयुग का संदेश मिले, उनका उत्साह बढ़े, उनमें आशा का संचार हो, उनमें सुन्दर भविष्य का विश्वास उत्पन्न हो।

तुम यह भली भाँति जानते हो कि किसानों की दुर्दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व स्वयं उन पर ही है। जिस दिन वे इस बात को भली भाँति समझ कर, अपने उत्थान के लिए कटिबद्ध हो जायँगे, कोई भी उनके मार्ग को नहीं रोक सकेगा। वह वह मूल मंत्र है, जो तुम्हें हृदय में अच्छी तरह धारण कर लेना चाहिए और जिसका तुम्हें अपने क्षेत्र में अधिकाधिक प्रचार करना चाहिए।

तुम भली भाँति जानते हो कि इस देश में कोई समय था, जब कृषि-कार्य सब धन्धों से अच्छा समझा जाता था। 'उत्तम खेती, मध्यम व्यापार' आदि कहावत से यह भली भाँति स्पष्ट है। पर अब तो खेती की दशा बड़ी शोचनीय है। इसका कारण है। अब यह कार्य अशिक्षित लोगों के हाथ में है। वे पुराने ढर्रे से जैसे-तैसे काम चला रहे हैं। वे इस बात का विचार नहीं करते कि इसमें किस प्रकार क्या सुधार करना चाहिए। उन्हें आसपास की बातों का पता नहीं होता, वे यह नहीं जानते कि खेती के लिए अच्छा बढ़िया बीज और वैज्ञानिक खाद कहाँ मिलता है, और किस प्रकार उसे लेने में किफायत हो सकती है; यदि फसल में कोई कीड़ा लग जाय तो क्या उपाय काम में लाना

चाहिए; इस विषय में, रुपया उधार लेने में तथा खेती की उपज अच्छे भाव से बेचने में सहकारी समितियों की सहायता किस प्रकार लेनी चाहिए। तुम शिक्षित और समझदार हो; इन बातों की ओर यथेष्ट ध्यान दे सकते हो। तुम्हें अपने किसान भाइयों से पूर्ण सहयोग करना चाहिए। यदि किसी के पास बैल की कमी हो तो तुम अपने बैल से उसके कार्य में सहायता पहुँचाओ। यही नहीं, आवश्यकता हो और तुम्हें सुविधा हो तो तुम स्वयं उसके साथ परिश्रम करके उसका काम अच्छी तरह पूरा करने का प्रयत्न करो। ऐसा करना तुम्हारा कर्तव्य ही है। और, इसमें यह लाभ भी है कि जब तुम दूसरों के काम आओगे, तो दूसरे भी ज़रूरत पड़ने पर तुम्हारी मदद करने से विमुख न होंगे। किसानों में सहयोग का भाव बढ़ जाय तो उनकी उन्नति होने में देर न लगे।

अच्छा, अब डेढ़ दो महीने तुम्हें खेती सम्बन्धी विशेष कार्य करना नहीं है। अधिकांश समय अवकाश ही रहेगा। तुम्हें यह समय यों ही नहीं निकाल देना चाहिए। जो आदमी अपने समय की कद्र नहीं करता, समय भी उसकी कद्र नहीं करता। तुम्हें चाहिए कि इस अवकाश के समय को किसी गृह-शिल्प में लगाओ जिससे एक तो तुम्हें दिन काटना भारी प्रतीत न हो, तुम्हारा मन काम में लगा रहे; दूसरे तुम्हें कुछ आमदनी हो। यदि तुम इस समय को सूत कातने में लगाओ तो तुम्हारी कपड़े की जरूरत बहुत आसानी से पूरी हो जाय, तुम्हारा विशेष खर्च न हो और तुम कपड़े के विषय में स्वावलंबी बन जाओ।

हाँ, तुम्हें अनाज बेचना है। उसके लिए तुम्हें सहकारी समिति की सहायता लेना ठीक होगा। जिसे तुम उसके अच्छे दाम पा सको, और कोई तुम्हें उसका सौदा करने में ठगे नहीं। तुम्हें अपनी विविध आवश्यकताओं के लिए रुपए की ज़रूरत तो होगी ही, पर तुम्हें संयम और गंभीरता से काम लेना चाहिए। सारा अन्न बेच देना ठीक नहीं

होगा; तुम्हें अपने खाने के लिए तो रख ही लेना चाहिए, जिससे कुछ दिन पीछे तुम्हें ही अन्न उधार तथा मँहगे भाव से न लेना पड़े। यह ठीक है कि तुम्हें अपनी बहिन का विवाह करना है, और अपनी दादी का वार्षिक श्राद्ध भी। तुम्हारे मन में ऐसा विचार आना स्वाभाविक ही है कि सब अन्न बेच कर तथा कुछ रुपया उधार लेकर भी ये दोनों कार्य कुछ अच्छी तरह कर दिए जायँ, जिससे जाति-बिरादरी में प्रशंसा हो। परन्तु बंधुवर! तनिक दूरदर्शिता से काम लो। दो दिन की वाहवाही लूटने के लिए फजूलखर्ची करना और अपना भविष्य चिन्तामय बना लेना ठीक नहीं।

एक बार ऋण लेने पर वह व्याज के कारण बढ़ता ही जाता है। फिर हर्ष, शोक या बीमारी आदि के ऐसे प्रसंग आते रहते हैं, कि अगर उनके लिए पहले से कुछ रुपया जमा करके न रखा जाय और किफायत न की जाय तो कर्ज बढ़ता ही जाता है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि सामाजिक रीति रस्म और व्यवहार में जहाँ तक हो सके, हाथ थाम कर खर्च किया जाय। सम्भव है, तुम्हारी किफायतशारी को देख कर तुम्हारे कुछ मित्र या रिश्तेदार तुम्हारी हँसी करें; अथवा तुम्हारे विषय में कुछ ऐसे-वैसे शब्द भी कहें। ऐसी बातों से तुम्हें विचलित न होना चाहिए। ऐसे अवसरों पर तुम्हें अपने आत्मबल तथा दृढ़ता का परिचय देना चाहिए। जो भाई आज तुम्हारी हँसी या निन्दा करते हैं, वे ही कालान्तर में तुहारे कार्य या व्यवहार को सराहेंगे; और चाहे वे प्रत्यक्ष में तुम्हारी प्रशंसा न करें, जब उन्हें मितव्ययिता के लाभ दिखाई देंगे तो वे बहुत खुशी से तुम्हारा अनुकरण करने लगेंगे।

तुम्हें अपने सब आय-व्यय का अनुमान-पत्र तैयार करना चाहिए। तुम अपनी आमदनी का मोटा अन्दाज़ लगाओ, और यह सोचो कि तुम्हें किस प्रकार खर्च करना चाहिए, जिससे इस आमदनी

से ही तुम्हारी अगली फसल तक की ज़रूरतें पूरी हो जायँ। तुम्हें ऋण लेने का तो कोई प्रसङ्ग ही न आए। इसके विपरीत, तुम्हारे पास कुछ रुपया अचानक आजानेवाली ज़रूरतों के लिए बच रहना जरूरी है। इस बात को ध्यान में रखते हुए तुम अपनी जिन-जिन ज़रूरतों में कमी कर सको, उनमें कमी करो। इस तरह जहाँ एक ओर ख़र्च में कमी करो, दूसरी ओर अपनी आमदनी बढ़ाने का भी ध्यान रखो। जब-जब जितना अवकाश तुम्हें खेती के काम से मिले, उसे फजूल न खोओ, उसमें कोई आमदनी का काम करो। किसानों के लिए दो खास मुसीबतें कर्ज़दारी और मुकदमेबाजी होती हैं। इनसे हमेशा बचते रहो। सभव है, इन बातों पर अच्छी तरह अमल करने से तुम धीरे-धीरे इस योग्य हो जाओ कि सङ्कट में पड़े हुए अपने भाइयों की रुपए-पैसे से कुछ मदद कर सको, जिसे करना तुम्हारा कर्तव्य ही है।

इसी प्रसङ्ग में मैं तुम्हारा ध्यान तुम्हारे अन्य नागरिक कर्त्तव्यों की ओर भी दिलाना चाहता हूँ। तुम जिस गाँव रहते हो, उसके सुधार का तुम्हें भरसक प्रयत्न करना चाहिए। यह कहने से काम न चलेगा कि मेरे अकेले के करने से क्या होता है; जब गाँव के सब आदमी कोशिश करेंगे तब मैं भी उसमें सहयोग प्रदान करूँगा। यदि प्रत्येक आदमी दूसरों की इन्तजार में बैठा रहे तो सुधार-कार्य का श्रीगणेश ही कैसे हो! यह ठीक है कि बहुत सा काम ऐसा है, जो सामूहिक उद्योग से ही हो सकता है, उसके लिए सबको मिलकर कोशिश करनी चाहिए। परन्तु कितने ही काम हर एक घर वाले के अलग-अलग करने के भी तो होते हैं। मिसाल के तौर पर तुम अपना घर अच्छी तरह साफ रखो, हर एक चीज ठीक ढङ्ग से उसके उचित स्थान पर रखो, अपने घर का कूड़ा गली में चाहे जहाँ न फेंककर उसके निश्चित स्थान पर डालो। अगर तुम्हारा घर कच्चा और छोटा है तो भी वह इतना साफ सुन्दर लिपा-पुता रहना चाहिए कि जो कोई वहाँ आवे,

उसे अच्छा लगे और उसके मन में भी अपने घर को वैसा ही साफ रखने की भावना हो। अगर तुम अपने घर को अच्छी तरह साफ नहीं रखते और जहाँ-तहाँ लोगों को सफाई का उपदेश देते हो तो उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। पर जब तुम स्वयं अच्छा उदाहरण उपस्थित करते हुए दूसरों से भी सफाई के बारे में चर्चा करोगे तो उसका यथेष्ट फल हुए बिना न रहेगा। इस तरह तुम अपने गाँव भर को साफ सुन्दर बनाने में सहायक होगे। आजकल गाँव प्रायः गन्दगी के लिए बदनाम हैं। किसी गाँव की बदनामी में उस गाँव के हर एक आदमी को अपनी बदनामी समझनी चाहिए, और सबको उसके सुधार की कोशिश करनी चाहिए। इस काम में जरूरत होने पर वहाँ की पंचायत आदि की भी मदद लेनी चाहिए।

इसी तरह अगर हमारे गाँव को अशिक्षित जनता की बस्ती कहा जाय तो यह हमारे लिए बड़े अफसोस की बात है। हर एक आदमी को चाहिए कि वह स्वयं पढ़े और अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करे। यों तो पाठशालाएँ आदि खोलने की जिम्मेदारी सरकार पर है, परन्तु सुयोग्य नागरिकों को यह शोभा नहीं देता कि वे सरकार के भरोसे बैठे रहें। कुछ स्वार्थ-त्यागी स्वयंसेवक रात्रि-पाठशाला आदि का प्रबन्ध करें और उसका कार्य अच्छी तरह चलाकर इस बात का जीता-जागता प्रमाण दें कि वास्तव में इस गाँव के आदमियों को शिक्षा-प्रचार की लगन है। उनकी इस लगन के होते हुए, जब वे अधिकारियों से इस कार्य में सहायता चाहेंगे तो उनकी माँग की अवहेलना न की जा सकेगी।

यहाँ मिसाल के तौर पर गाँव की सफाई और शिक्षा की ही बात कही गई है। दूसरी बातों का विचार तुम खुद कर सकते हो। गाँव की सामूहिक आवश्यकताओं का विचार और पंचायत का संगठन होना बहुत आवश्यक है। तुम उसके सम्बन्ध में आवश्यक बातें जानते ही

हो। तुम्हें उसके कार्य में यथेष्ट सहयोग देना चाहिए। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति गाँव भर के आदमियों में अपनेपन का अनुभव करे। दूसरे के दुख-सुख को अपना दुख-सुख समझे। गाँव के लोकमत को ऐसा प्रबल बनाना चाहिए कि कोई आदमी किसी अनुचित कार्य का साहस ही न करे। मिथ्या व्यवहार, लड़ाई-झगड़े, रागद्वेष, मुकदमेबाजी, फ़जूल-खर्ची आदि सब बन्द हों। ग्राम-जीवन में प्रकृति का आनन्द मिले और गाँव भले आदमियों के लिए आकर्षण-स्थान हों।

तुमने शिक्षा पाई है, तुमसे आशा की जाती है कि तुम गाँव को आदर्श गाँव बनाने की भरसक कोशिश करोगे। विश्वास रखो, जब तुम सच्चे दिल से, सेवा-भाव से ग्राम-सुधार का व्रत लेकर अपना जीवन बिताओगे तो प्रत्येक सज्जन की सहानुभूति तुम्हारे साथ होगी, और परमात्मा तुम्हें इस महान कार्य में सफलता प्रदान करेगा।

---

[७]

मजदूर बननेवाले से

तुमने निश्चय कर लिया है कि तुम अपने निर्वाह के लिए अपने चाचा ताऊ आदि के आश्रित न रहकर स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करोगे। तुम्हें गाँव में कोई काम धन्धा न मिला। इसलिए तुम शहर में आ गए हो, और चाहते हो कि चाहे जो मेहनत मजदूरी का काम मिले, उसे सहर्ष किया जाय। तुम्हें मजदूर कहलाने में एक प्रकार से गर्व का ही अनुभव होता है।

तुम्हारा विचार बहुत उत्तम है। मेहनत करने में, और मज़दूर

या श्रमजीवी कहलाने में किसी को शर्म क्यों आनी चाहिए! श्रमजीवी होने का मतलब है, अपने निर्वाह के लिए किसी दूसरे पर भार-स्वरूप न होना, मुफ्त का न खाना, समाज की सेवा करते हुए अपना गुजारा करना, किसी व्यक्ति या संस्था से दान या भीख अथवा अनावश्यक सहायता न लेना, आदि। ये सब बातें हर नागरिक के लिए ज़रूरी हैं। खेद है कि कहीं-कहीं लोगों की धारणा उलटी है। वे मेहनत करके, पसीना बहा कर, रोटी खानेवाले को समाज में नीचे दर्जे का समझते हैं, यहाँ तक कि उसके पास बैठना, उठना या उससे सम्बन्ध रखना नहीं चाहते। नवाब, जमींदार, सेठ, साहूकार, महन्त, मठाधीश, आदि ऐसे आदमियों को समाज में आदर-मान दिया जाता है; जो परिश्रम प्रायः कुछ नहीं करते, और अपने पैत्रिक धन या जनता के दान-धर्म आदि से मिलनेवाले द्रव्य के आधार पर खूब मौज करते हैं, विलासिता या ऐयाशी का जीवन व्यतीत करते हैं। विचार कर देखा जाय तो ये लोग मुफ्तखोरे हैं, प्रत्येक भले आदमी को इनके ऐसे रहनसहन आदि से घृणा करनी चाहिए। ये देश या समाज पर भार हैं। ये पराए धन का उपयोग करते हैं; नहीं-नहीं; दुरुपयोग करते हैं। ये तो एक तरह से चोर या डाकू का सा व्यवहार करते हैं। यह ठीक है कि बहुत से आदमी इस की बुराई को नहीं समझ पाते या उसे सहन करते रहते हैं, उसे साफ तौर से बुरा नहीं कहते। पर इससे उनका व्यवहार अच्छा नहीं हो जाता, वह तो बुरा ही रहता है। इन लोगों का आदर-मान करना इनके बुरे व्यवहार को प्रोत्साहन या बढ़ावा देना है। मुफ्तखोरी का खूब प्रचार हो जाय तो समाज का काम कैसे चले!

लोगों की विवेक-बुद्धि कहाँ चली गई! आवारा फिरनेवाले हट्टे-कट्टे 'साधु संन्यासियों' या महन्तों और मठाधीशों आदि के लिए तो सब प्रकार के भोजन-विश्राम ही नहीं, विलासिता के साधन जुटाए

जाते हैं, और जो आदमी घोर शीत तथा कड़ी धूप में जीतोड़ परिश्रम करते हुए समाज-सेवा में लगे रहते हैं, उनको रूखी-सूखी रोटी भी पेट भर नहीं दी जाती। उन्हें जो मज़दूरी दी जाती है, उससे उनका निर्वाह होगा या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं की जाती। उन्हें सर्दी-गर्मी से बचने के लिए काफी वस्त्र चाहिए, उन्हें कभी तीज-त्योहार मनाने की भी कल्पना हो सकती है, उनके बाल-बच्चों को भी भरण-पोषण के लिए कुछ चाहिए, कभी-कभी उन्हें बीमारी भी सताती ही है, उनकी शिक्षा-दीक्षा की भी कुछ व्यवस्था होने की आवश्यकता है—इन बातों की ओर कौन ध्यान देता है ! मजदूर एक क्रय-विक्रय (ख़रीद बेच) की चीज माने जाते हैं। आर्थिक युग ठहरा। हर कोई यही चाहता है कि मजदूरी सस्ती-से-सस्ती हो; उसके लिए ख़र्च जितना कम करना पड़े, अच्छा है।

एक बाबू साहब हैं। उनके यहाँ एक नौकर है, वे उसे निर्धारित वेतन दे देते हैं, सो भी अगले महीने के कई दिन चढ़ाकर। नौकर इसी में खुश है कि वह धंधे सिर लगा है; यद्यपि इस धंधे से उसका और उसके परिवार का पालन-पोषण बहुत मामूली तौर पर भी नहीं हो पाता। उसे हर माह कुछ रुपया उधार लेकर गुजर करनी पड़ती है, और जब-जब ऋण के भार ने बहुत सताया है तो अपनी स्त्री का, पहले का बनवाया हुआ, ज़ेवर बेच कर अपना पिंड छुटाता रहा है। अब ज़ेवर न रहने पर उसे अपना घर रहन रखकर काम चलाना पड़ रहा है। पर बाबू साहब को इन बातों से क्या मतलब ! वे तो उसे ठहराई हुई वेतन देकर अपने आपको अपने कर्तव्य से मुक्त समझते हैं। यही क्या कम है कि उन्होंने उसे नौकरी से अलग करके उसकी जगह दूसरा नौकर नहीं रख लिया, जिसे कुछ कम तनख्वाह देने से ही काम चल जाता !

एक सार्वजनिक संस्था है। उसमें पाँच आदमी चपरासी का काम

करते हैं। दिन भर दौड़धूप का काम रहता है। कभी-कभी तो चपरासी सवेरे नौ बजे के आए हुए रात को नौ-दस बजे अपने घर जा पाते हैं। तो भी मंत्री जी बहुत समय से इसी फिक्र में रहे हैं कि पाँच चपरासियों का काम केवल तीन आदमियों से निकाल लिया जाय। संयोग से एक दिन इन्होंने देखा कि एक चपरासी को विशेष काम नहीं रहा; बस, इन्होंने उसे तो नौकरी से अलग करने का निश्चय कर ही लिया। अगले महीने केवल चार आदमी रखेंगे, और यह प्रयोग सफल हो जाने पर एक और को भी निकाल देंगे।

एक मिल का मालिक है, उसने मिल का चिट्ठा देखा है, आय-व्यय का विचार किया है। आमदनी खासी रही है; पर वह सोचता है, कुछ और अधिक होनी चाहिए। यह कैसे हो? खर्च में कमी करनी होगी। वह प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को सूचना देता है कि वे अपने-अपने विभाग में जितने भी मजदूर कम कर सकें, उन्हें कम करके किफायत और कार्य-कुशलता का परिचय दें। उसे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई है कि एक नए ढंग की मशीन बन गई है, जिसमें इस समय की अपेक्षा आधे ही मजदूरों की जरूरत रह जायगी!

बस, जहाँ देखो, वही बात—मजदूरों की संख्या कम करो, उन को जितना कम वेतन दिया जाय, अच्छा है। कभी-कभी मजदूर हड़-ताल करके अपनी वेतन या सुविधाएँ कुछ बढ़वा लेते हैं, परन्तु प्रायः उनकी आवश्यकताओं की दृष्टि से, वेतन आदि की वृद्धि बहुत कम होती है। बहुधा उनका संगठन कमजोर होता है, हड़ताल के दिनों में उनके पास खाने-पीने को नहीं होता, एक जगह के मजदूरों के हड़ताल करने पर कारखाने वाले दूसरी जगह के मजदूरों को लाकर अपना काम चला सकते हैं—बेकारों की कमी नहीं है, मजदूर अपनी मजदूरी सस्ते-से-सस्ते भाव से बेचने के लिए उतावले और बेचैन रहते हैं। फिर, यदि कुछ दिन कारखाना बन्द ही रहे तो मालिक को कुछ नुकसान नहीं होता, मुनाफे में

थोड़ी कमी होगी, तो वह उसे सहज ही सहन कर सकता है। कुछ नेक और दयावान आदमी इन बातों का विचार करने लगे हैं। सम्भव है, कुछ समय में समाज और राज्य इन समस्याओं को सुलझाने लगे, धन-वितरण की विषमता दूर हो, और मजदूरों को सभ्य सुशिक्षित जीवन व्यतीत करने का अवसर आए; यही नहीं, किसी भी व्यक्ति का, श्रम न करने की दशा में जीवन बिताना निन्दा और अपमान की बात समझी जाय।

उस शुभ भविष्य को शीघ्र लाने के लिए स्वयं मजदूर भाइयों को बहुत काम करना है। उन्हें आपस में सद्भाव और सहयोग का व्यवहार करना चाहिए; एक की विपत्ति से दूसरा अनुचित लाभ न उठाए, वरन् एक दूसरे के लिए यथाशक्ति त्याग और कष्ट-सहन को तैयार रहे। संगठन के महत्व को समझते हुए मजदूर उसके नियमों का पालन करें, और अपनी शक्ति बढ़ावें। क्योंकि हर आदमी को ही किसी-न-किसी प्रकार का श्रम करना आवश्यक है, मजदूरों का संगठन समाज के किसी वर्ग के विरुद्ध नहीं होना चाहिए, वह तो सिर्फ मुफ्तखोरों का, यानी आराम से बैठे-बैठे दूसरों की कमाई खानेवालों का, ही विरोधी होना चाहिए।

प्रत्येक श्रमजीवी अपने-अपने क्षेत्र में मन लगा कर काम करे। उसे इस बात का विचार न करना चाहिए कि कोई आदमी उसे देख रहा है, या नहीं। जब श्रमजीवी स्वयं लगन से काम नहीं करते, बल्कि दूसरों की जाँच के भय से काम करते हैं तो उस धन्धे में निरीक्षण-व्यय व्यर्थ में बढ़ जाता है। जब कि हम चाहते हैं कि समाज में श्रमजीवी और पूँजीपति का भेद न हो प्रत्येक पूँजीपति भी श्रमजीवी हो और श्रमजीवी ही पूँजीपति हो, सब उत्पादन-कार्य किसी व्यक्ति या संस्था विशेष के लाभ के लिए न होकर सर्वसाधारण जनता के लिए हों, तो श्रमजीवी के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि वह

समाज के हित के लिए काम करे। उसके मन में सेवा-भाव होना चाहिए, सेवा करने में उसे अभिमान और गर्व अनुभव करना चाहिए। इस योजना में निरीक्षण का कोई स्थान ही नहीं रहता। हर एक आदमी को अपना उत्तरदायित्व समझते हुए स्वयं ही अपने हिस्से का काम खूब जी लगा कर करना चाहिए।

शहर में रहनेवाले मजदूरों को एक बात से बहुत सावधान रहना चाहिए। शहरों के रहनसहन में फैशन, शौकीनी विलासिता आदि बहुत अधिक होती है। अकसर मजदूर भी वहाँ तरह-तरह के व्यसनों में फंस जाते हैं। एक दूसरे की देखादेखी वे बीड़ी, पान और चाय का ही नहीं, शराब तक का सेवन करने लगते हैं। अपनी आमदनी का विचार न करके, वे सिनेमा नाटक आदि में बहुत खर्च कर डालते हैं। नतीजा यह होता है कि वे कर्ज लेने लगते हैं, और उसका भार धीरे-धीरे बढ़ता ही रहता है। इस तरह शहर में काम करनेवाले बहुत से मजदूर, गाँव वालों की निस्बत ज्यादा वेतन पाते हुए भी, बहुत कर्जदार रहते हैं। अकसर उनकी तन्दुरुस्ती भी खराब ही रहती है। कुछ तो शहरों का वातावरण और जलवायु ही अच्छी नहीं होती, तिस पर भी विविध व्यसन! स्वास्थ्य अच्छा रह ही कैसे सकता है! प्रत्येक श्रमजीवी को व्यसनों से बचना चाहिए और अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए। यह ठीक है कि स्वास्थ्य-रक्षा के लिए कुछ मनोरञ्जन की भी आवश्यकता होती है, परन्तु कोई मनोरञ्जन ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसका हमारे शरीर या मन पर खराब असर पड़े, और हमें लाभ की जगह हानि हो। हमारे अन्य कार्यों की भाँति हमारा मनोरञ्जन भी हमारे उत्थान और विकास में सहायक होना चाहिए, न कि हमारे शारीरिक विकार या मानसिक पतन में। अस्तु, मनोरञ्जन-मनोरञ्जन में बहुत फर्क होता है, और हमें उसका चुनाव बहुत विचारपूर्वक करना चाहिए।

ऊपर स्वास्थ्य की बात कही गई है। शिक्षा की भी उपेक्षा न की जानी चाहिए। मजदूरों के आन्दोलन वेतन-वृद्धि आदि के लिए तो होते हैं, पर शिक्षा के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता। मजदूरों की एक संगठित माँग यह होनी चाहिए कि उनके लिए प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षा किसी खास वर्ग के लिए सीमित नहीं रहनी चाहिए। यह हर आदमी के लिए आवश्यक है, चाहे वह किसी भी प्रकार का श्रम या धंधा करे। अभी अनेक मजदूर अपने लिए शिक्षा की उपयोगिता नहीं जानते, वे अपने आपको समाज का एक हीन या नीचे दर्जे का अंग मानते हैं। यह बहुत अनुचित है। जब तक वे स्वयं अपना मान न करेंगे, समाज में उनकी प्रतिष्ठा होने की आशा नहीं। हर एक मजदूर अपने कार्य का गौरव समझे, दूसरे मजदूरों के सुख-दुख में साथ दे और उनकी उन्नति और संगठन में योग दे तो समाज कितना अग्रसर हो जाय!

संसार में मज़दूरी की कितनी उपयोगिता है! श्रम के बिना जीवन ही नहीं रह सकता! पृथ्वी से भाँति-भाँति की आवश्यक वस्तुएँ पैदा करने के लिए श्रम आवश्यक है। फिर, अनेक वस्तुएँ जिस रूप में पृथ्वी से प्राप्त होती हैं, उन्हें हम उसी रूप में काम में नहीं लाते, उन्हें व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए श्रम की आवश्यकता होती है, तभी तो हमें भोजन-वस्त्र आदि मिल सकता है। हमारा मकान, दुकान, सड़कें, बगीचे, मनोरञ्जन और शिक्षा-सामग्री आदि बनानेवाले मजदूर ही तो होते हैं। ऐसे कल्याणकारी मजदूर वर्ग को नीचे दर्जे का समझना घोर अन्याय है। यह अन्याय बहुत मुद्दत से होता आ रहा है, और अभी तक भी इसका अन्त नहीं हुआ।

पुराने ज़माने से शासकों ने और कानून या शास्त्र बनानेवालों ने मानसिक या दिमागी काम को ऊँचा स्थान दिया, और शरीर की मेहनत को नीचा ठहराया। अकसर मानसिक काम करनेवालों और

शारीरिक काम करनेवालों में बहुत भेद-भाव रहा; कहीं अधिक उग्र रूप में, और कहीं कम। भारतवर्ष में पूजा-पाठ या पढ़ने-पढ़ाने का मानसिक कार्य करनेवाले ब्राह्मण कहलाए। ये ऊँची जाति के माने गए; शारीरिक श्रम शूद्र वर्ग के लिए ठहराया गया, जिसे समाज में नीचा दर्जा दिया गया। प्राचीन यूनान (और रोम) में गुलामी का रिवाज था। मेहनत मजदूरी का काम गुलामों या दासों के जिम्मे था। साहित्य, कला आदि मानसिक कार्यों पर यूनानियों का एकाधिकार था, जो अपने आपको राज्य के स्वतन्त्र नागरिक कहते थे। अब योरोप में दास-प्रथा नहीं रही है, भारतवर्ष में भी जाति-प्रथा के बन्धन शिथिल हो गए हैं। बहुत से ब्राह्मणों में खेती करना बुरा नहीं समझा जाता, और शूद्र जाति के कितने ही आदमी विविध मानसिक कार्यों में लगे हुए हैं। तथापि मनुष्य जाति अपने पुराने संस्कारों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाई है।

योरपियन लोग अपने उपनिवेशों में जहाँ तक बन आता है, मेहनत-मजदूरी का काम अनगोरे लोगों से ही लेना चाहते हैं, जिन्हें वे निम्न श्रेणी का मानते हैं, और जिनके लिए सामाजिक या राजनीतिक अधिकारों का उनके पास सदा दिवाला निकला रहता है। इस प्रकार दासता की जगह वर्णभेद प्रचलित है। भारतवर्ष में भी जाति-भेद का दुर्ग विध्वंस होने में अभी समय और शक्ति की आवश्यकता है। आधुनिक शिक्षित वर्ग जाति-अभिमानियों जैसा है; कितने ही युवक दफ्तरों की साधारण कलर्की आदि के लिए महीनों धक्के खाते फिरेंगे, पर, जहाँ तक बस चलेगा, मेहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह करना पसन्द न करेंगे।

कल-कारखानों, मशीनों और पूँजीवाद के इस जमाने में मजदूरों की पलटनों की पलटनें बनती जाती हैं। बेकारों की संख्या भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। मजदूरों या उनके भाई बेकारों का जीवन बहुत

संकटों और तकलीफों का है। अपना सङ्गठन करके वे अपने मुनासिब अधिकारों को पाने के लिए भरसक कोशिश कर रहे हैं। लेकिन उन्हें कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है। धनवानों या पूँजीपतियों में ऐसे आदमी विरले ही हैं जो खुद अपनी खुशी से मजदूरों की रोज़-मर्रा की खाने-पहनने की जरूरतों का विचार करें, और उन्हें समाज में अपनी बराबरी का दर्जा दें।

निदान, श्रम की महत्ता बहुत से लोगों को अभी मान्य नहीं; समाज श्रमजीवी को वह आदर मान नहीं देता, जो दिया जाना चाहिए। हमें अभी यह समझना शेष ही है कि किसी श्रम से आदमी नीचा नहीं होता; श्रम तो मनुष्य का उत्थान करनेवाला है। जब कि शारीरिक श्रम समाज के लिए आवश्यक और उपयोगी है तो उसे करनेवाले को निम्न श्रेणी में क्यों रखा जाय। कोरे मानसिक कार्य का अभिमान करना व्यर्थ है, निन्दनीय है। यहाँ तक कि पूजा-पाठ में समय लगाकर दूसरों की कमाई खानेवाले की निस्बत अपना पसीना बहानेवाला स्वावलम्बी श्रमजीवी हज़ार दर्जे अच्छा है। अंगरेजी कहावत है कि श्रम पूजा है ('वर्क इज़ वार्शिप'); हम कहेंगे कि श्रम पूजा से भी बढ़ कर है। श्री पूर्णसिंह जी का यह कथन प्रत्येक नागरिक को भलीभाँति मनन करना चाहिए—'मनुष्य, और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मज़दूरी, बिना हाथ के कला कौशल के, विचार और चिन्तन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मज़दूरी की धूल नहीं पड़ने पाती, वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वे ही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं, जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी

का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने-वाले लुहार, बढ़ाई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं, जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि।'

इस तत्व को हमने अभी तक अच्छी तरह ग्रहण नहीं किया; भावी नागरिकों को तो करना ही चाहिए; जितनी जल्दी वे यह करें, अच्छा है।

[८]

व्यापारी और दुकानदार से

———

क्या तुम व्यापार या दुकान करना चाहते हो ? तुम्हारी रुचि और योग्यता इस कार्य अनुकूल है तो तुम सहर्ष इस में प्रवेश कर सकते हो। यह अच्छा काम है; प्रत्येक देश को ही नहीं, प्रत्येक नगर और गाँव को व्यापारियों और दुकानदारों की आवश्यकता होती है। व्यापारी विविध पदार्थों को भिन्न-भिन्न स्थानों से हमारे नगर या गाँव में मँगाते हैं। दुकानदार उन चीजों को अपने पास संग्रह करके रखते हैं, और हमारी जरूरत के समय हमें देते हैं। तभी हमारा रोजमर्रा का काम ठीक तरह चलता है। नहीं तो प्रत्येक आदमी को अपनी-अपनी ज़रूरत की चीजों को इकट्ठा करने में ही बहुत सा समय और शक्ति लगानी पड़े, और उसके रोजमर्रा के काम में बहुत हर्ज हो। इससे स्पष्ट है कि व्यापारी और दुकानदार समाज के बहुत आवश्यक और उपयोगी अंग हैं। इस श्रेणी के आदमियों से समाज का बहुत हित होता है।

व्यापारी या दुकानदार बननेवाले आदमी को यह बात भली भाँति हृदय में धारण कर लेनी चाहिए कि वह इस श्रेणी में प्रवेश इस लिए करता है कि वह समाज-हित कर सके, समाज-सेवा में यथेष्ट भाग ले सके। इस कार्य के द्वारा आजीविका प्राप्त करना बुरा नहीं है, परन्तु केवल स्वार्थ-साधन के लिए ही व्यापारी या दुकानदार बनना कदापि उचित नहीं। इस मूल बात को भुला देने के कारण आजकल व्यवहार में बहुत सी बुराइयाँ आ घुसी हैं; यहाँ तक कि व्यापार का अर्थ, जैसे भी बने, अपने लिए धन संग्रह कर लेना समझा जाता है।

यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख किया जाता है, दूसरी बातों का तुम स्वयं विचार कर लोगे। दुकानदार के नाम को लज्जित करनेवाले कितने ही आदमी अपनी चीजों का अधिक-से-अधिक मूल्य वसूल करने के लिए अनेक प्रकार की धोखाधड़ी करते हैं। वे खाने-पीने तक की चीजों में दूसरी चीजें मिला देते हैं, इससे बाजार में शुद्ध पदार्थ मिलना कठिन हो गया है, और जनता के स्वास्थ्य की बहुत हानि होती है। दुकानदार अपनी चीजों की तारीफ में कोई बात उठा नहीं रखते, ग्राहक फँसाने के लिए वे उनके गुणों का भरसक बखान करते हैं। किसी चीज को वे पुरानी या खराब कहना नहीं जानते, वे अपनी दुकान की प्रत्येक वस्तु को बढ़िया और ताजी बताते हैं। चीजों के तोल-माप में भी वे अपने 'हाथ की सफाई' का अच्छा परिचय देते हैं। बाज़ार को लाई हुई सेर भर चीज प्रायः घर पर पन्द्रह साढ़े पन्द्रह छटाँक उतरती है, और बारह गज का कहा जानेवाला, हाथ के बुने कपड़े का थान बहुधा साढ़े ग्यारह गज का ही होता है। माल का नमूने से घटिया होना, ऊपर कुछ और तथा भीतर कुछ और होना, आदि बातें भी नित्य देखने में आती हैं।

इसके अलावा, कितने ही दुकानदार अपने पदार्थों के निश्चित दाम नहीं रखते, वे ग्राहक से, अधिक-से-अधिक दाम माँगते हैं। भोला-भाला

ग्राहक सहज ही ठगा जाता है। यदि ग्राहक होशियार और चालाक होता है तो वह उस वस्तु के बहुत कम दाम लगाता है। पीछे दुकानदार अपनी मांग में कुछ कमी करता है और ग्राहक अपने लगाए हुए दाम में कुछ वृद्धि करता है। यह क्रिया कई-कई बार होती है, खूब वादविवाद और हाँ-ना होती हैं। बहुत देर बाद किसी तरह सौदा तय हो पाता है। अथवा, ग्राहक दूसरी दुकान की परीक्षा करने चल देता है। सम्भव है, वहाँ भी दुकानदार और ग्राहक दोनों का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट हो। क्या इसका नाम दुकानदारी है ? यह तो एक तरह की ठगी या लूट है। यह भले आदमियों का काम नहीं। दुकानदारी में तो प्रत्येक वस्तु के दाम, साधारण मुनाफे का विचार रखते हुए, तय या सुनिश्चित रहने चाहिएँ और ग्राहक के अज्ञान से अनुचित लाभ न उठाया जाना चाहिए। यही नहीं, दुकानदारों को अन्य नागरिकों की तरह त्याग और सेवा-भाव से काम करना चाहिए। निर्धन या मोहताज ग्राहकों के लिए अधिक-से-अधिक रियायत की जानी उचित है, यहाँ तक कि आवश्यकता होने पर दुकानदार को किसी सौदे में कुछ हानि सहने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

दुकानदारी में जानबूझ कर हानि सहने की बात, सम्भव है, तुम्हें चौंका देनेवाली हो। आजकल प्रायः यही समझा जाता है कि दुकानदारी कोई दान-धर्म का काम नहीं है, यह तो केवल नफे के लिए की जाती है। संयोग से कभी नुकसान हो जाय तो दूसरी बात है, वरना जान-बूझकर ऐसा व्यवहार क्यों किया जाय कि घर से कुछ देना पड़े। असल में बात यह है कि दुकानदारी हमारे नागरिक कार्यों में से एक है। और, नागरिक चाहे जो भी काम करे उसका उद्देश्य होना चाहिए—समाज की सेवा और सहायता करना। इस तरह यदि हमारे कर्तव्य-पालन से कभी कुछ आर्थिक हानि होती है, या कुछ कष्ट सहना पड़ता है, तो इसमें कोई हिचक या भय की क्या बात है !

ऊपर आर्थिक हानि की चर्चा की गई है। कष्ट-सहन का भी कुछ जिक्र कर दिया जाय। अनेक दुकानदार सोचते हैं कि हम किसी के नौकर नहीं हैं, हम तो स्वतन्त्र हैं, जब चाहे दुकान खोल लो, और जब चाहे बन्द कर दो; हमारे दुकान बन्द करने से यदि किसी ग्राहक को सामान न मिला और उसे कुछ असुविधा हुई तो हम उसके लिए जिम्मेवार नहीं हैं। यदि हम दुकानदारी को एक नागरिक कर्तव्य और सेवा का काम समझते हैं, तो यह साफ जाहिर है कि हमारा, जब चाहे, दुकान बन्द रखना ठीक नहीं है। दुकानदारी के कारण हमारा बहुत से आदमियों से सम्बन्ध स्थापित होता है, उन सब के प्रति हमें अपनी जिम्मेवरी निभानी चाहिए। हमें अपनी दुकान के खुले रहने का समय निश्चित करने में अपनी आमदनी का ही ध्यान नहीं रहना चाहिए, बल्कि सर्वसाधारण की सुविधा का भी काफी ख्याल रखना जरूरी है। इस तरह हमें सिर्फ बड़े खरीददारों की ही जरूरतें पूरी नहीं करनी हैं, बल्कि छोटे ग्राहकों की भी सेवा करनी है। अगर कोई आदमी कोई चीज थोड़े परिमाण में खरीदना चाहता है, तो हमें उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। हमें यह न सोचना चाहिए कि जरा से सौदे के लिए चीज निकाल कर देने का झंझट क्यों उठावें। सम्भव है, हमारे थोड़ा सा कष्ट न उठाने के कारण बेचारे ग्राहक को बहुत ज्यादा कष्ट उठाना पड़े।

यदि किसी जगह कोई बीमारी फैलने की अफवाह हो, या कोई सैनिक आक्रमण का भय हो, या व्यापारिक संकट की आशंका हो तो दुकानदार को जल्दी से वहाँ से भाग कर अपनी जान बचाने की चेष्टा करना और अपने ग्राहकों की सेवा से बेपरवाह हो जाना उचित नहीं है। उसका यह काम ऐसा ही है जैसा किसी सैनिक का युद्ध-क्षेत्र में पीठ दिखाना, या किसी धर्म-प्रचारक का विरोधियों से डर कर, सत्य से मुँह मोड़ना। दुकानदार को याद रखना चाहिए कि जिस तरह जहाज

डूबने के समय कप्तान अपनी जगह सबसे पीछे छोड़ता है, उसी तरह दुकानदार का भी कर्तव्य है कि अधिक-से-अधिक समय तक ग्राहकों की सेवा के लिए तैयार रहे।

अब व्यापार की बात लें। यदि व्यापार का मूल उद्देश्य ही भुला दिया जाय तो व्यापार के नाम पर जो भी अनर्थ हो जाय सो कम है। आधुनिक व्यापारी प्रायः धर्म, ईमानदारी, समाज-सेवा, त्याग और परोपकार की बात वहाँ तक ही करता है, जहाँ तक ये उसके व्यापार में सहायक हों। कुछ वर्ष हुए हमें बम्बई में एक युवक मिला था, वह व्यापार करना चाहता था। वह उन दिनों सार्वजनिक नेताओं और कार्यकर्ताओं से मिलने और उनके आदेशानुसार विविध सेवा-कार्य करने में व्यस्त रहता था। पर हमारे आश्चर्य और दुख का ठिकाना न रहा, जब उस युवक ने कहा कि 'मेरा यह सेवा-कार्य सफल व्यापारी होने के लिए है। मैं यहाँ के सब बड़े-बड़े आदमियों से परिचय प्राप्त कर लेना चाहता हूँ, यह परिचय मुझे पीछे खूब काम आएगा। इन लोगों से तथा इनकी सिफारिश से मुझे माल के अच्छे आर्डर मिला करेंगे। इसीलिए मैं यह सब कष्ट सह रहा हूँ।' व्यापार में सफलता-प्राप्ति का कैसा अनोखा उपाय है, यह!

व्यापार का उद्देश्य एकमात्र अथवा अधिकांश में धन कमाना समझा जाता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि अनेक व्यापारी मादक पदार्थों का व्यापार करने में लगे हैं, और वे स्वभावतः उन पदार्थों का जनता में अधिक-से-अधिक प्रचार और वृद्धि चाहते हैं। वे यह भली भाँति जानते हैं कि इन चीजों के सेवन से सर्वसाधारण का द्रव्य नष्ट होता है। पर उन्हें इसकी से क्या चिन्ता! उन्हें तो अपने नफे से काम है, और जब तक कि मादक पदार्थों के व्यापार से उन्हें नफा रहता है, वे इस काम से क्यों परहेज करें।

साधारण व्यापारी देशी और विदेशी माल के व्यापार में कुछ भेद

नहीं करता। वह किसी विदेशी माल को मँगाने और देश में उसकी खपत बढ़ाने में तनिक भी संकोच नहीं करता, बशर्ते कि ऐसा करने से उसे कुछ आमदनी होती हो। ऐसे महानुभाव बहुत कम हैं, जो विदेशी माल का आर्डर देने से पूर्व दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते हों, जो यह सोचते हों कि क्या उस माल को मँगाने से देश का वास्तविक हित होता है। अधिकांश व्यापारी अपने नफे के लिए देश के बाजारों को शौकीनी, विलासिता और मादकता आदि के विदेशी माल से भरते रहते हैं। इसी प्रकार वे देश की अत्यन्त उपयोगी जीवन-रक्षक भोजन-वस्त्र आदि की सामग्री विदेशों को केवल इसलिए भेजते रहते हैं कि इससे उन्हें अच्छी दलाली मिल जाती है, फिर चाहे उनके देश-बन्धु उन वस्तुओं की निर्यात से चाहे जितना कष्ट पाया करें।

इसके उदाहरण-स्वरूप भारतवर्ष की ही बात लीजिए। यहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों करोड़ रुपए का विदेशी सामान आता है, और यहाँ का अन्न तथा अन्य कच्चा माल विदेशों को भेज दिया जाता है। इसके लिए दोषी विदेशी व्यापारी तो हैं ही; स्वयं यहाँ के व्यापारियों का भी इसमें काफी भाग है, जो अपने स्वार्थ के खातिर देश को निर्धन, परावलम्बी और उद्योगहीन बनाने में सहयोग प्रदान करते हैं। इन व्यापारियों ने देश की आयात एवं निर्यात में कृत्रिम वृद्धि कर रखी है। ये लोग यह नहीं सोचते कि वास्तव में यहाँ की आयात और निर्यात दोनों के परिमाण में भारी कमी करने की आवश्यकता है। हमें विदेशी माल केवल विशेष दशाओं में, और अत्यन्त परिमित परिमाण में मँगाना चाहिए; और, यहाँ के अधिकांश कच्चे माल को यहाँ ही रख कर, उससे तैयार माल बनाकर स्वावलम्बी बनना चाहिए। साधारण अवस्था में हमें विदेशी वहिष्कार की नीति अवलम्बन करनी चाहिए, इस बात को हमारे व्यापारी लोग प्रायः जान-बूझ कर भी भूल जाते हैं। तथापि समाज-हित के लिए इस नीति को अपनाना

बहुत जरूरी है।

जरा सोचिए। आजकल हर एक ताकतवर राष्ट्र अधिक-से-अधिक देशों को अपने अधीन करना, और इस तरह अपना राज्य बढ़ाना चाहता है। कोई राष्ट्र अपने अधीन देशों को आजाद करना नहीं चाहता। चारों तरफ साम्राज्यवाद और नाजीवाद आदि का बोल-बाला है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने अधीन देशों में अपना तैयार माल खपा कर तथा उनका कच्चा माल सस्ते भाव से लेकर उनका शोषण करने की आशा रहती है। यदि उनकी यह आशा पूरी न होने दी जाय, यदि उन्हें विश्वास हो जाय कि प्रत्येक देश स्वावलम्बी है और विदेशी माल का तिरस्कार करता है तो उनकी राज्य-विस्तार की कामना स्वतः कम होजाय और संसार की बहुत सी खून-खराबी सहज ही दूर हो जाय। इस प्रकार विदेशी-बहिष्कार में पराधीन देशों की मुक्ति और विश्वव्यापी सुख-शान्ति का संदेश है; और, यह कार्य बहुत-कुछ व्यापारियों के स्वार्थ-त्याग और कर्तव्य-पालन पर निर्भर है।

जो व्यापारी या दुकानदार जितना शक्तिशाली होगा, उतना ही वह समाज के लिए अधिक उपयोगी हो सकता है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि यदि वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करें तो समाज की हानि भी बहुत हो सकती है। इसलिए जब वे अपना संगठन करते और संस्था बनाते हैं तो आशंका होने लगती है कि इनके द्वारा कुछ अनर्थ न होने लगे। कितने ही बड़े-बड़े व्यापारी अकेले ही या आपस में मिलकर, केवल अपने स्वार्थ को लक्ष्य में रखते हुए किसी पदार्थ को इतने अधिक परिमाण में खरीद कर जमा कर लेते हैं कि बाजार में उसका अभाव सा हो जाता है। पीछे वे उसमें से थोड़ा-थोड़ा निकाल कर खूब मँहगा करके बेचते हैं। इस प्रकार वे अपने मुनाफे के खातिर देश में कृत्रिम अकाल या दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले होते हैं।

व्यापारियों को जरा-विवेक से काम लेना चाहिए। उनका कार्य समाज का हित-साधन करना है, न कि उसके संकट को बढ़ाना। वे तो समाज के रक्षक और पालक हैं। भावी व्यापारियों से अपना कर्तव्य-पालन की आशा रखना अनुचित न होगा।

व्यापार-क्षेत्र में आनेवाले युवक! सोचिए। तुम्हारे सामने कितना महान कार्य है। तुम केवल इस लिए व्यापारी बनने का विचार न करो कि तुम्हारा कोई रिश्तेदार व्यापार करके दो चार वर्ष में ही खूब मालामाल हो गया है, या तुम्हारा कोई मित्र तुम्हारे लिए व्यापार के बड़े-बड़े आकर्षण उपस्थित कर रहा है। द्रव्य के कुछ लाभ के बदले नागरिक कर्तव्य की अवहेलना होती हो तो इसे घाटे का ही व्यापार समझना चाहिए। धन-दौलत की अपेक्षा मनुष्यत्व कहीं बढ़कर है। हम ऐसा व्यापार करें, जिससे हमारे मानवी गुणों का विकास हो, जिससे हम समाज की सुख-शान्ति बढ़ाने में सहायक हों। वास्तव में आजकल व्यापार के नाम पर जो अनेक दुष्कृत्य किए जाते हैं, वे नीति-विरुद्ध हैं, वे छल-कपट के कार्य हैं। भावी नागरिक ऐसा व्यापार करे, जिससे उसका, समाज का, देश का, और हाँ, संसार का हित-साधन हो, और 'व्यापार' शब्द की प्रतिष्ठा बढ़े।

[९]
डाक्टर बननेवाले से

बहुत समय से तुम्हारी इच्छा डाक्टर बनने की थी, अब उसकी पूर्ति का समय आया देख कर तुम्हें हर्ष होना स्वाभाविक है। परमात्मा तुम्हें अपने डाक्टरी जीवन में सफल करे और तुम्हारे द्वारा समाज का यथेष्ट हित-साधन हो।

आह! डाक्टर का कार्य कितना उच्च, कितना पवित्र और कितना हितकारी है! जब हम बीमार पड़ते हैं तो हमें इसका अच्छी तरह अनुभव होता है। डाक्टर को बुलाने के लिए हम कितने उत्सुक होते हैं, और उसके आते ही हमें कितना आराम मालूम होने लगता है! वह रोग-मुक्ति का संदेश देनेवाला होता है। हाँ, सब डाक्टर अपने सामने कुछ ऊँचा ध्येय नहीं रखते, और बहुत से डाक्टरों के व्यवहार को देखकर जनता की धारणा उनके पेशे के बारे में बड़ी खराब हो चली है। अब तुम डाक्टर बननेवाले हो, और मैं चाहता हूँ कि तुम इस पेशे का गौरव बढ़ानेवाले बनो, इसलिए कुछ बातों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ।

आजकल कितने ही नए-नए वैज्ञानिक अविष्कार होते जाते हैं, बहुत से नए-नए यंत्र बन चुके हैं, और बनते जा रहे हैं। इसलिए कितने ही रोगों का इलाज अब पहले की अपेक्षा सरल और सुविधा-जनक हो गया है, रोगी को पहले की भाँति कष्ट नहीं उठाना पड़ता; कितने ही रोग जो पहले असाध्य माने जाते थे, अब विशेषतया आपरेशन या इन्जेक्शन सम्बन्धी आविष्कारों के कारण, डाक्टरों के वश के बाहर नहीं रहे। दवाइयों की तो अब कोई सीमा ही नहीं रह गई। मानव शरीर के एक-एक अंग सम्बन्धी अलग-अलग डाक्टर हैं; आँख के अलग, दाँत के अलग, नाक के अलग; और उनके द्वारा काम में लाई जानेवाली औषधियाँ असंख्य हैं। कितनी ही दवाइयाँ तो ऐसी हैं, जो तन्दुरुस्त आदमियों के सेवन के लिए उपयोगी बताई जाती हैं, अनेक दवाइयों के सेवन की सिफारिश इसलिए की जाती है कि वे खास-खास रोगों के निवारण में सहायक समझी जाती हैं, अर्थात् यह कहा जाता है कि उनके सेवन करनेवालों पर उन बीमारियों का असर नहीं होगा। औषध-शास्त्र की यह दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति बहुत चकित करनेवाली है।

परन्तु यह भी तो कहा जाता है कि ज्यों-ज्यों डाक्टरों और दवाइयों की संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों रोगियों और बीमारियों की संख्या बढ़ रही हैं। यह आशंका है कि इसी तरह यह क्रम जारी रहा तो मनुष्य जाति का बड़ा अनिष्ट होगा। क्या इस बात में कुछ सचाई नहीं है? अवश्य ही अब डाक्टर बनने के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति को गम्भीरता-पूर्वक यह विचार कर लेना चाहिए कि वह इस अशुभ भविष्य के आने में किसी प्रकार सहायक न हो। डाक्टरों का उद्देश्य तो संसार को यथासम्भव रोग से मुक्त करना है, वे रोगों के प्रचार और वृद्धि में सहयोग क्यों प्रदान करें! क्या उनका यह कार्य इसलिए क्षम्य कहा जाय कि इससे उनको व्यक्तिगत लाभ होता है? फिर तो चोर, ठग और डाकू के कार्य में ही क्या बुराई है!

डाक्टर को अपने धंधे से अपना और अपने परिवार का निर्वाह करने का अधिकार है, परन्तु उसे अपनी आय के प्रत्येक भाग के सम्बन्ध में इस बात की कड़ी निगरानी रखने की आवश्यकता है कि वह अनुचित मार्ग से तो प्राप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए, जब उसे यह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि जो स्त्री अपने अनाथ बच्चे के इलाज के लिए उससे प्रार्थना करने आई है, उसके पास अपने खाने-पीने का भी साधन नहीं है, तो डाक्टर का उससे अपनी फीस माँगना बड़ी हृदयहीनता की बात है। क्या डाक्टर में बच्चों के प्रति कुछ प्रेम-भाव न रहना चाहिए, अथवा उसका प्रेम केवल अपनी ही संतान तक परिमित रहना चाहिए? यहाँ तक देखने में आया है कि कोई आदमी अपने रोगी रिश्तेदार को दिखाने के लिए डाक्टर साहब को लिवा लेगया है, और जब तक डाक्टर साहब उसके घर पहुँचते हैं, उससे पहले ही रोगी इस संसार की सब आधि-व्याधियों से मुक्त होने की तैयारी कर चुका है, और उसे अब किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रह गई है, तो भी डाक्टर साहब अपनी फीस लेने में संकोच नहीं

करते। उनका कहना यह होता है कि 'हमने अपना काम किया, हम यहाँ तक आए, अब अगर रोगी हमारी सेवा का लाभ न उठा सका तो इसमें हमारा क्या दोष ! यदि हम अपनी फीस छोड़ दिया करें तो हमारा काम कैसे चले !' अच्छा, फीस छोड़ने से डाक्टर साहब का काम रुक जाता है, और मनुष्यत्व और सहृदयता को तिलाञ्जलि देने से उनका काम चलता रहता है !

डाक्टरों को अपनी फीस की इतनी चिन्ता रहती है कि उसके सामने उन्हें अपने जीवन-उद्देश्य की बात भी तुच्छ जँचती है। फीस लेने के नए-नए रास्ते निकाल लिए गए हैं, और वे इतने प्रचलित हो गए हैं कि उनमें साधारण आदमियों को प्राय: कोई विचित्रता नहीं प्रतीत होती। एक कर्मचारी बीमार है, छुट्टी लेने के लिए डाक्टर का सार्टीफिकट चाहिए, सार्टीफिकट तो फीस देने पर ही मिलेगा। बीमार आदमी को बीमार होने का प्रमाणपत्र क्या मुफ्त में मिल जाय! दूसरी बात लें। किसी संस्था के नौकर को किसी आवश्यक कार्य से छुट्टी लेनी है, साधारण नियमों के अनुसार छुट्टी मिलनी कठिन है; हाँ, बीमारी का प्रमाण-देकर छुट्टी लेने का मार्ग खुला है। नौकर को भला-चंगा होते हुए भी बीमार साबित किए जाने की इच्छा है, और डाक्टर साहब भी तन्दुरुस्त आदमी को किसी-न-किसी बीमारी का प्रमाणपत्र देने को तैयार हैं। दोनों का व्यवहार नीति-विरुद्ध है। क्या दुनिया का काम इसी प्रकार चलता रहे !

इस प्रसंग में यह भी कहना है कि जो डाक्टर साहब तन्दुरुस्त आदमी को बीमारी का प्रमाणपत्र देकर उसे छुट्टी दिलाते हैं, वे ही, प्रायः उसी समय कुछ आगे की तारीख डालकर एक दूसरा प्रमाणपत्र इस बात का भी दे देते हैं कि अब वह व्यक्ति काम करने लायक हो गया। इस प्रकार कोई आदमी जब चाहे कुछ समय के लिए 'प्रामाणिक बीमार' बन सकता है; हाँ, इसके लिए फीस अवश्य देनी ज़रूरी

होती है। कोई-कोई डाक्टर एक-दो रुपए में ही राजी हो जाते हैं, और कुछ, चार-पाँच या अधिक रुपए माँगते हैं। ऐसे डाक्टर विरले ही हैं, जिन्हें फीस का मोह न हो, जो तन्दुरुस्त को बीमार लिखने को तैयार न हो, चाहे उन्हें कितनी ही फीस क्यों न दी जाय। जो डाक्टर ऐसे होते भी हैं, उन्हें दूसरे डाक्टर व्यंग-पूर्वक 'सिद्धांन्तवादी' कहते हैं, और मूर्ख समझते हैं। सिद्धांतवादियों को मूर्ख समझनेवाले इन 'बुद्धिमानों' से भगवान समाज का रक्षा करे!

डाक्टरों को विशेष मतलब नगर के उन्हीं थोड़े से आदमियों से है, जिनसे उन्हें आमदनी होती है। शेष जनता पर वे कृपा-दृष्टि क्यों करें! आवश्यकता है कि डाक्टर जिस नगर या कस्बे में रहे, उस तमाम बस्ती का स्वास्थ्य सुधारने, और वहाँ के आदमियों को रोगमुक्त करने में वह कोई कसर न उठा रखे। वहाँ की जलवायु में कौनसी बात ऐसी है, जिससे वहाँ कोई रोग होने की आशंका है, उसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है, लोगों के रहनसहन और खानपान आदि में क्या-क्या सुधार होना चाहिए तथा ऋतु-परिवर्तन के साथ उसमें क्या अन्तर किया जाना चाहिए—इस प्रश्नों की ओर डाक्टर को निरन्तर ध्यान देते रहने की आवश्यकता है। वह जनता के सम्पर्क में रहे, और उसकी कठिनाइयों या असुविधाओं से परिचित होते हुए उसके कल्याण में सहायक हो। डाक्टर लोग इस आदर्श को कब ग्रहण करेंगे कि रोगों की चिकित्सा करने की अपेक्षा उनको होने ही न देना कहीं अच्छा है। आजकल किसी डाक्टर के पास से जितने अधिक रोगी दवाई ले जाते हैं, उतना ही उसका कार्य अधिक प्रशंसनीय समझा जाता है। इस बात को दूसरी दृष्टि से देखने की जरूरत है। अधिक आदमी बीमार होने का अर्थ यह समझा जाना चाहिए कि डाक्टर की कार्य-कुशलता कम है, और उसे इसके लिए उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। हाँ, इस हिसाब में ऐसे आदमियों की गणना न की जानी चाहिए, जो डाक्टर

की सूचनाओं की अवहेलना करके बीमार पड़े हैं।

आधुनिक युग का यह बड़ा दुर्भाग्य है कि आदमी प्रकृति से दूर रहते हैं, वे बात-बात में औषधियों का सेवन करते हैं। हम औषधियों के सहारे जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उन्हीं से शरीर की शक्ति बढ़ाना चाहते हैं। हम भूल जाते हैं कि शक्ति का वास्तविक स्रोत प्रकृति है। उसके दिए शुद्ध जल, स्वच्छ वायु और ताज़े भोजन का उपयोग न करके हम डाक्टरों से ताकत बढ़ानेवाली दवाइयों के नाम और पते पूछते रहते हैं। और, डाक्टर लोग तो दवाइयों के प्रचारक या एजन्ट ही ठहरे; वे कोई-न-कोई दवाई तजवीज कर ही देते हैं। वे संयम और सादगी का उपदेश नहीं देते, हमारी विलासिता और शौकीनी पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं करते। हम जैसा मन चाहे जीवन बिताएँ; हमारे सब विकारों को दूर करने के लिए उनके पास रामबाण या अचूक कही जानेवाली 'पेटन्ट' औषधियाँ हैं। औषधियाँ हमारा नित्य का भोजन बन गई हैं; भोजन से भी अधिक हमें औषधियों का सहारा है। यही तो डाक्टर चाहते हैं, और इसी में उनका लाभ है।

ऊपर कहा गया है कि डाक्टर लोग दवाइयों का इस तरह प्रचार करते हैं, मानो वे उनके एजंट ही हों। विशेष खेद की बात यह है कि ये अधिकतर विदेशी दवाइयों आदि का उपयोग करते हैं। इस प्रकार ये स्वदेशी के मार्ग में वैद्यों की अपेक्षा बहुत बड़े बाधक हैं। वैद्य लोग जिन औषधियों का उपयोग करते हैं, वे अधिकतर स्वदेशी पदार्थों से स्वदेश में ही बनाई जाती हैं। इसलिए वे यहाँ की जनता की प्रकृति के बहुत अनुकूल होती हैं, तथा सस्ती होने के कारण उन्हें गरीब आदमी आसानी से ले सकते हैं। डाक्टरों की दवाइयाँ देश का द्रव्य विदेशों को बहा ले जाती हैं, डाक्टर लोग इस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते।

थोड़े ही अनुभव से डाक्टरों को यह मालूम हो सकता है कि गरीब देश में ज्यादातर मरीजों की बीमारी का मूल कारण उन की अज्ञानता या दरिद्रता है। जिन बेचारों को भरपेट अच्छा अन्न नहीं मिल पाता, वे घटिया अन्न का उपयोग करते हैं. और जब घटिया अन्न भी नसीब नहीं होता तो कितने ही आदमी सूखे हुए बेर, महुआ, इमली, गूलर आदि फलों को पीस कर, आटे के साथ मिला कर खाते हैं, या गाजर, शलजम, प्याज ककड़ी आदि से अथवा मुल-तानी मिट्टी के मिश्रण (मिलावट) तक से जैसे-तैसे अपना पेट भरते रहते हैं। ऐसी ही बात कपड़े का है। बहुत से आदमियों के पास बदन पर पहनने को कोई वस्त्र नहीं होता, अथवा केवल एक-एक ही वस्त्र होता है, जिसके बदलने की बात वे उसके फट जाने पर ही सोचते हैं। कितने ही कृषि-श्रमजीवी घोर शीत की रातों में फूस या पयाल पर सोते हैं, और खेतों पर पहरा देते समय एक फटी पुरानी चादर में गुजर करने को मजबूर होते हैं। ये लोग पेट के दर्द, पेचिश, बदहजमी, बुखार, या नमोनिया आदि के शिकार हों तो क्या आश्चर्य ! पर जब ये डाक्टर की शरण लेते हैं तो वह इनके लिए कोई 'मिक्सचर' या पुड़िया तजवीज़ करके अपना फ़र्ज पूरा कर देता है। क्या वह कभी यह सोचने का कष्ट उठाता है कि ये कि ये लोग बीमार क्यों पड़े, इनकी आर्थिक स्थिति कैसी है, और जो औषधि इन्हें दी जा रही है, उससे इन्हें कितनी देर आराम मिलेगा ! जबतक इनके भोजन-वस्त्र की समस्या हल न होगी, ये बारबार बीमार पड़ेंगे ही। डाक्टरों को ऐसी बात सोचने की फुरसत कहाँ।

किसी भी डाक्टर से पूछो कि इस वर्ष मुख्य-मुख्य बीमारिताँ कौन-कौनसी रहीं, वह अपने क्षेत्र की अनेक बीमारियों के नाम बतला देगा। वह यह भी कहेगा कि अब अमुक बीमारी का प्रकोप पहले की अपेक्षा बढ़ रहा है, और अमुक बीमारी कुछ कम है. तथा अमुक

बीमारी नई पैदा हो गई है, अथवा बाहर से आगई है। निदान, डाक्टर अनेक बीमारियों के नाम और लक्षण जानता है; पर वह यह नहीं जानता कि भूख नाम की भी कोई बीमारी है, और अनेक आदमी उससे भी मरा सकते हैं। दूसरी बीमारियाँ चाहे असाध्य या लाइलाज़ ही हों पर भूख की बीमारी का तो निश्चय ही इलाज हो सकता है। हमारे डाक्टर के पास जटिल और अनोखे नामवाली कितनी ही दवाइयाँ होंगी, पर भूख की दवाई रखने का वह कभी विचार नहीं करता। और, यदि वह गम्भीरता या संजीदगी से इस बात को सोचे, और अगर उसमें थोड़ी सी भी दया और हमदर्दी हो तो शायद वह नुस्खे लिखना छोड़कर लोगों के लिए रोटी का सामान जुटाने में लग जाय। इसी प्रकार उसे यह बात जँचने लगेगी कि जनता का स्वास्थ्य सुधारने के लिए डाक्टरी का धंधा करने की अपेक्षा लोगों का अज्ञान दूर करने और उन्हें शरीर-विज्ञान सम्बन्धी बातें बताने की आवश्यकता अधिक है। कल्पना करो कि कुछ डाक्टर अपने जीवन को दिशा बदल डालें तो इससे हर्ज ही क्या होगा! उनकी संख्या में जो बेहद वृद्धि हो गई है, और आगे निरन्तर होती जाती है, उसमें रुकावट हो जाने से समाज का हित ही होगा।

असल में रोग इतने कष्टप्रद हैं नहीं, जितने कि वे बना दिए गए हैं। अगर एक आदमी को मामूली सी तकलीफ हो, या तकलीफ होने का ख्याल हो, और उसे देखने के लिए डाक्टर बुलाया जाय तो प्रायः डाक्टर ऐसे ढङ्ग से बात-व्यवहार करेगा कि उस साधारण रोगी को भारी रोग का शिकार होने में शंका न रहेगी। बजाय इसके कि डाक्टर रोगी का मानसोपचार या दिमागी इलाज करके जल्दी ही उसे भला चंगा कर दे, वह तो रोग को घातक या खतरनाक बताता है और रोगी को अधिकाधिक अपनी चिकित्सा और औषधियों के जाल में फँसाता है। यदि डाक्टर साहब को यह मालूम हो जाता है कि रोगी

गरीब है, और उससे कुछ आमदनी की आशा नहीं तो वे उसे जल्दी रिहा कर देते हैं; पर पैसे वाले भी सस्ते छूट जाया करें तो डाक्टरों का काम कैसे चले ! और, आधुनिक डाक्टर को सब से पहले, और सब से अधिक फिक्र तो अपना काम चलाने की है। समाज रसातल को जाय तो जाय, रोगों की संख्या बढ़े तो बढ़े, रोगियों का कष्ट अधिक हो तो हो, डाक्टर साहब तो ऐसा ही व्यवहार करनेवाले हैं, जिससे वे अपना मतलब सिद्ध करते रह सकें; हाँ, दुनिया इस रहस्य को न जाने, सब आदमी उन्हें समाज का एक आवश्यक और उपयोगी अङ्ग समझते हुए उन्हें यथेष्ट द्रव्य ही नहीं, मान-प्रतिष्ठा भी प्रदान करते रहें।

अगर तुम डाक्टर बनकर ऐसे ही डाक्टरों की संख्या बढ़ानेवाले होते तो मैं तुम्हें इसके लिए कोई बधाई देने को तैयार न होता; मैं तुम्हारी डाक्टरी की शिक्षा को समाज की दृष्टि से अनिष्टकारी ही कहता। परन्तु नहीं, मैंने तुमको निकट से देखा है, मैं तुम्हारे उच्च विचारों को, समाज-सेवा की तुम्हारी भावना को, भली भाँति जानता हूँ। आशा है, तुम्हें 'डाक्टर' पद का गौरव बढ़ाने की चिन्ता है, होगी तुम एक सच्चे, निर्लोभी चिकित्सक बनना चाहते हो। परमात्मा तुम्हें सफल करे।

[१०]

वकील बननेवाले से

तुमने कानून की परीक्षा पास करली है और तुम वकालत का धंधा करने को सोच रहे हो। तुम जानना चाहते हो कि इस कार्य के सम्बन्ध में मेरे विचार कैसे हैं और, तुम्हें इस पेशे को करते हुए किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

ज्ञान के अनेक विषय हैं, और सभी विषयों के ज्ञान का महत्व है ; फिर, क़ानून के ज्ञान की अवहेलना कैसे की जा सकती है ! आजकल हम सब किसी न किसी प्रकार के राज्य में रहते हैं, उस राज्य के नियम हमें पालन करने होते हैं, और वहाँ के क़ानूनों से हमें दिन-रात काम पड़ता है। यदि हमारा कोई कार्य क़ानून-विरुद्ध होता है तो हमें उसका दंड भोगना होता है। हम यह कह कर उससे मुक्ति नहीं पा सकते कि हमें उस क़ानून की जानकारी न थी। हमें क़ानून का ज्ञान हो या न हो, हम से आशा यही की जाती है कि हमारा कोई व्यवहार क़ानून के विरुद्ध न हो। क़ानून की जानकारी न होने की बात कह कर हम कानून भङ्ग करने के दोष से मुक्त नहीं हो सकते। इस प्रकार स्वयं हमारे लिए क़ानून का ज्ञान कितना उपयोगी है, यह स्पष्ट है।

क़ानून जानने से हम अपने उन भाइयों की सहायता कर सकते हैं, जिन्हें इसका ज्ञान नहीं है। हम उनमें क़ानून की मोटी-मोटी आवश्यक बातों का प्रचार करके उन्हें क़ानून-भंग सम्बन्धी बहुत से खतरों मे बचा सकते हैं। यदि भूल से उनसे कोई क़ाननू-भंग हो जाय तो हम अपने ज्ञान के सहारे उनकी कुछ मदद कर सकते हैं। इस प्रकार क़ानून जाननेवाला आदमी समाज की अच्छी सेवा कर सकता है। परन्तु कोई क़ानून-ज्ञाता समाज के लिए उपयोगी है या नहीं, और यदि उपयोगी है तो कहाँ तक—यह बात तो उस ज्ञान के उपयोग पर निर्भर है। ज्ञान एक शक्ति है, उसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। अपने ज्ञान का दुरुपयोग करनेवाला आदमी समाज के लिए बहुत ख़तरनाक होता है; वह अपने व्यवहार से समाज को बड़ी हानि पहुँचा सकता है। वह मूर्ख से भी अधिक हानिकर है; कारण, मूर्ख आदमी के पास ज्ञानकी शक्ति न होने के कारण, उसके द्वारा समाज को बहुत क्षति नहीं पहुँच सकती।

ज्ञान के सदुपयोग से समाज में सुख-शान्ति बढ़ती है, और उसके

दुरुपयोग से कलह और राग द्वेष की वृद्धि होती है। इस बात को यहाँ विशेष रूप से कहने की आवश्यकता इसलिए है कि अधिकांश वकीलों का व्यवहार देखकर जनता की यह धारणा हो गई है कि वकील मुक़दमेबाजी बढ़ानेवाले होते हैं। साधारणतया जब दो भाइयों की किसी मामूली सी बात पर कुछ तकरार हो जाती है और उनमें से एक भाई किसी वकील के पास जाता है तो वकील साहब उसे यह सलाह नहीं देते कि अपना क्रोध शान्त करो और भाई से मिलजुल कर रहो। वे तो उसके क्रोध को और भड़का देते हैं, और उसे जायदाद का बँटवारा कराने के लिए कटिबद्ध कर देते हैं। वे जानते हैं कि बँटवारे के लिए बहुत सी क़ानूनी कार्यवाही की आवश्यकता होगी, और इसके लिए मवक्किल को उनके क़ानून-ज्ञान की ज़रूरत होगी, तथा वे उससे अच्छी फीस या मेहनताना ले सकेंगे। यदि वकील साहब उस मुवक्किल को समझा-बुझाकर उसका उसके भाई से मेल करा दें तो यह आमदनी उन्हें कहाँ से हो! वकील साहब को अपने मेहनताने की ऐसी फ़िक्र रहती है कि दोनों पक्ष राजीनामा करने के इच्छुक हों तो भी जहाँ तक उनका वश चलता है, वे राजीनामा नहीं होने देते। इस प्रकार वे स्वार्थवश मुक़दमेबाजी बढ़ानेवाले एजन्ट का कार्य करते रहते हैं। जब उन्हें इस बात का पता लग जाता है कि मुक़दमे में कोई दम नहीं है तो वे मुवक्किल से कहते हैं, 'देखो भाई तुम्हारा पक्ष तो कमज़ोर है, पर हम पूरी कोशिश करेंगे' कौन जाने, अदालत का रुख तुम्हारी ही तरफ़ हो जाय, और तुम जीत जाओ। जीत-हार तो भाग्य का खेल है। तुम अपना भाग्य अज़मा देखो।' बेचारे मुवक्किल पर प्रायः वकील का जादू चल जाता है, वह मुक़दमा लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। और, मुवक्किल हारे या जीते, वकील साहब को तो मेहनताना मिलना ही चाहिए।

अपने मेहनताने की धुन में वकील साहब झूठ-सच का विचार बहुत-कुछ छोड़ देते हैं। वे तो स्पष्ट कहते सुने जाते हैं कि 'अदालत

में झूठ-सच नहीं देखा जाता; यहाँ तो सच वही है, जो कानून की दृष्टि से सच साबित हो सके। और, झूठ को सच साबित कर दिखाना ही तो वकील की चतुराई होती है।' कभी-कभी कुछ वकील ऐसे भी मिलते हैं, जो ऐसे मुकदमों को लेने से इनकार कर देते हैं, जिसके विषय में उन्हें विश्वास हो जाता है कि यह बिलकुल झूठा है। परन्तु इन वकीलों को भी प्रायः ऐसा मुकदमा लेने में कोई आपत्ति नहीं होती, जिसमें दावा तो सच्चा होता है, परन्तु जिसे अदालत में सच्चा साबित करने के लिए अनेक प्रकार की झूठी-सच्ची कार्यवाही करनी होती है; बहुत से ऐसे गवाह बनाने होते हैं जो शपथ-पूर्वक यह बयान दे सकें कि हम मौके पर हाजिर थे और हमने अपनी आँखों से अमुक-अमुक घटना होते देखी थी। कुछ वकील गवाहों को स्वयं नहीं सिखाते, वे अपना यह काम छोटे सहायक वकीलों या मुन्शी-मोहर्रिरों आदि के लिए छोड़ देते हैं। इससे मुख्य बात में अन्तर नहीं आता। अदालत में, गवाहों से चाहे गंगाजली उठवाई जाय, और चाहे उन्हें कुरान शरीफ़ या पवित्र बाइबिल की शपथ दिलाई जाय, अधिकांश व्यवहार झूठा होता है; और वकीलों से यह छुपा नहीं होता।

कोई-कोई वकील कभी लहर में आता है तो अपने पेशे के दोषों को स्वीकार करता है, वह कह देता है कि 'मैं यह कार्य बिलकुल पसन्द नहीं करता, मुझे इससे बहुत ग्लानि है। परन्तु क्या करूँ. और कोई अच्छा कार्य न मिलने से इसी को करने को लाचार हूँ!' जो हो, यह अफसोस की बात है कि अनेक वकीक लोग, चाहे अपनी इच्छा के विरुद्ध ही सही, यह आत्मिक पतन करनेवाला धन्धा करते रहते हैं। जो वकील अपने पेशे के दोषों को जानते हुए भी इसे स्वार्थ या लोभ वश करते रहते हैं, उनसे अन्य नागरिकों के प्रति दया और सहानुभूति के व्यवहार की विशेष आशा ही क्या की जाय? अनेक बार वे देखते हैं कि जो गरीब किसान या मजदूर उससे कानूनी सहायता लेने आया है,

उसके पास अपने खाने-पीने का भी सामान नहीं, वह घर पर अपने बाल-बच्चों को भूखे तड़पते छोड़कर अदालती काम के लिए आया है। परन्तु वकील साहब को उसकी अपेक्षा अपनी चिन्ता अधिक है, और वे उस अभागे से अधिक-से-अधिक रुपया ऐंठे बिना उससे कोई बात करने को तैयार नहीं होते। वकील साहब पढ़े-लिखे विद्वान हैं, वे चाहें तो नागरिकता पर एक सुन्दर भाषण दे सकते हैं, और लेख लिख सकते हैं; पर उनके उपर्युक्त व्यवहार को देख कर कोई नागरिक उनसे क्या शिक्षा लेगा!

कुछ वकील दयालु प्रकृति के भी होते हैं। वे कभी-कभी किसी निर्धन मवक्किल से फीस में कुछ रियायत कर देते हैं, अथवा किसी दुखी आदमी की कुछ सहायता कर देते हैं। कुछ सज्जन सार्वजनिक कार्यों में समय-समय पर चन्दा देते रहते हैं, जनता में उनकी प्रशंसा भी होती है। उन्हें भी यह सन्तोष रहता है कि हम लोकहित के कार्यों में योग देते हैं। परन्तु इसमें एक बात सोचने की है। यदि हम ऐसे उपाय से आय प्राप्त करते हैं जो उचित नहीं हैं, तो उस आय का एक अंश सत्कार्य में लगा देने से भी वह उपाय उचित नहीं कहा जा सकता। यही नहीं, अगर वह सारी आय भी लोकहितकारी कार्यों में लगा दी जाय, तो भी वह आय अनुचित ही समझी जानी चाहिए। किसी आदमी का नेक कामों में व्यय करने के लिए अनुचित मार्ग से धन पैदा करना, कीचड़ में पाँव भरने और फिर उसे धोने के समान है। इससे बचना चाहिए। हमारा साध्य अच्छा हो, यह ठीक है; पर उसके साधन भी अच्छे होने चाहिएँ; यदि उनसे हमारा नैतिक या आत्मिक पतन होता है तो वे कदापि अपनाए जाने योग्य नहीं हैं।

यहाँ तक तो मैंने कुछ साधारण बातों का विचार किया, जिनके सम्बन्ध में मैं चाहता हूँ कि तुम तथा वकील बननेवाले अन्य बन्धुगण गम्भीरता से विचार करें। आमतौर से इन पर विचार नहीं किया

जाता। तुम कुछ विवेकवान हो और लोभी भी कम हो, तुम्हारे हृदय में लोक-सेवा की भावना भी है। इसलिए सम्भव है तुम इस धन्धे की उन बातों से परहेज करो, जो आत्मा को पतन के मार्ग में ले जाती हैं। परन्तु इन्हीं बातों पर विचार करना काफ़ी नहीं है। मैं कुछ दूसरी बातों की ओर भी तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

वकील लोग बहुधा कहा करते हैं कि 'कानून का पालन होना चाहिए, विधान की पवित्रता का ध्यान रखो, कभी कानून भंग न करो, जो आन्दोलन करना हो, वह क़ानून के अन्दर रहते हुए ही करना चाहिए।' क्या हम कभी यह सोचने का कष्ट उठाते हैं कि 'अत्यन्त पवित्र' कहे जानेवाला कानून आखिर किसने बनाया? क्या यह ईश्वर या देवता का बनाया हुआ है? क्या इसे कसी सत्ताधारी व्यक्ति या दल ने ही नहीं बनाया है, जिसका पक्षपातपूर्ण होना प्रायः सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक भी है? पराधीन या अर्द्ध-स्वाधीन देशों की तो कुछ बात ही न करो, वहाँ का विधान वास्तव में विधान क़हा जाने योग्य नहीं होता, प्रधान शासक चाहे जैसा फर्मान निकाल कर उसे कानून का नाम दे सकता है। स्वाधीन देशों में भी डिक्टेटरों को कानून बनाने के सम्बन्ध में प्रायः अपरिमित अधिकार रहता है। प्रजा-सत्ता या लोकतन्त्र का दम भरनेवाले राज्यों में किसी कानून को पास करने या बनाने की अन्तिम सत्ता राष्ट्रपति आदि के हाथ में रहती है।

जहाँ कानून बनाने के लिए लम्बी चौड़ी विधि या रीतियों का अवलम्बन किया जाता है, वहाँ भी यदि हिसाब लगाया जाय तो जनता के एक दल का ही भाग विशेष रहता है। यदि मताधिकार इतना व्यापक भी हो कि उसकी आर्थिक शर्तें किसी प्रकार उसमें बाधक न हों तो भी निर्धन व्यक्तियों का पार्लिमेंट का मेम्बर चुना जाना सहज बात नहीं है। और, जिन-जिन दलों के आदमी पार्लिमेंट में पहुँचते हैं, उन सब का वहाँ समान प्रभाव नहीं होता। अधिकांश कार्यवाही एक

या अधिक दल विशेष के मतानुसार होती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहरी दृष्टि से ये कानून चाहे जैसे निर्दोष प्रतीत हों, बहुधा उनमें पक्षपात का भाव होता है। उनके नाम पर भूखे-नंगे मजदूरों का अधिक से अधिक शोषण किया जाता है, उनके सामूहिक आंदोलन को ग़ैर-कानूनी ठहराया जाकर उनका दमन किया जाता है। एक रंग या जाति विशेष की सुविधाओं का ध्यान रखा जाता है, अन्य रंगों या जातियों के आदमियों पर नाना प्रकार की सख्तियाँ की जाती हैं और उनके स्वतन्त्रता-प्रेमी नागरिकों को फाँसी के तख़्ते पर नहीं चढ़ाया जाता तो जेलों और काल-कोठरियों में बन्द रखा जाता है। क्या वकील लोग ऐसे पक्षपातपूर्ण कानून की पवित्रता की दुहाई देना बन्द करके इसे वास्तव में पवित्र बनाने का प्रयत्न करेंगे? अनेक बार यह सुनने में आता है, कि 'अमुक बात नैतिक दृष्टि से तो ठीक नहीं है, परन्तु जहाँ तक कानून का सम्बन्ध है ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं है।' नीतिरहित क़ानून का कब तक आदर मान किया जायगा? क्या क़ानून-विशारद वकील लोग क़ानून को नीति-युक्त बनवाने की ओर समुचित ध्यान न देंगे?

ऊपर क़ानून के पक्षपातपूर्ण होने की बात कही गई है। प्रत्येक राज्य की पुलिस और जेल की रिपोर्टों से इसे सिद्ध किया जा सकता है। हर जगह ग़रीब मेहनती मजदूर लोग ही क़ानून के शिकार अधिक बनते हैं, जिनकी संख्या भी वहाँ प्रायः अधिक होती है। उन्नत कहे जानेवाले राज्यों में भी हबशियों, काले या रङ्गीन आदमियों से जो व्यवहार होता है, उसे देखकर कौन यह कहने का साहस करेगा कि क़ानून इन्हें सौतेली माँ की तरह नहीं देखता।

प्रायः आदमी ऐसी बातों को गहराई से नहीं विचारते, वे इन्हें सुनी-अनसुनी कर देते हैं। उनका यह विश्वास है कि अदालतें शुद्ध न्याय करती हैं—दूध का दूध और पानी का पानी; यदि नीचे की

अदालत में कोई फ़ैसला ग़लत भी हो जाय तो ऊपर की अदालत का दरवाज़ा खुला है, और यदि उसके भी फ़ैसले के न्यायपूर्ण होने में कुछ शंका हो तो और ऊँची अदालत का निर्णय प्राप्त किया जा सकता है। यह बात, कहनेवाले के भोलेपन, अज्ञान अथवा अनुभवशून्यता की ही सूचक है। किसी-किसी देश के तो 'विधान' में ही यह लिखा रहता है कि पदाधिकारियों के विरुद्ध दीवानी या फ़ौजदारी अभियोग नहीं चलाया जा सकता। यदि कभी उच्च न्यायालय ऐसा निर्णय देदे कि अधिकारियों का व्यवहार कानून से अनुमोदित अथवा न्यायसंगत नहीं है तो शासक उसका प्रायश्चित करने के झंझट में न पड़कर कानून में ऐ-ा हेर-फेर कर लेते हैं, जिससे वैसी बात आगे ग़लती न मानी जाय! सरकार के हाथ में कानून बनाने की अपरिमित शक्ति रहती है। एकतन्त्री राज्य में 'राजा करे सो न्याय' कहा जाता है; पराधीन देशों में 'सरकार करे सो न्याय' माना जाता है।

हमें यह भूलना न चाहिए कि ऊँची अदालतों तक मामला ले जाना हर किसी का काम नहीं है। नीचे की अदालतों का खर्च ही साधारण आदमियों का कचूमर निकालने के लिए काफी होता है; वकीलों की फ़ीस, मुंशी-मोहर्रिरों को फीस; नकल लेने की फीस, गवाहों का ख़र्च, चपरासियों का इनाम और अहलकारों का नज़राना, अदालती स्टाम्प आदि का ख़र्च इतना भारी होता है कि भुक्तभोगी ही उसका अनुभव कर सकता है। ऐसी दशा में यह कहना कि अदालतों का दरवाज़ा सबके लिए समान रूप से खुला है, व्यर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि अदालतें केवल सम्पन्न और सत्ताधारी लोगों के लिए हैं।

बहुत सी हालतों में हमें इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि कानून विवेक-रहित हैं, या उसका अमलदरामद बिना सोचे-विचारे, मशीन की तरह, जड़तापूर्वक होता है। मिसाल के तौर पर एक बेकार

मज़दूर को दो दिन से खाने को एक दाना भी नहीं मिला, वह अब भूख का कष्ट सहन नहीं कर सकता, मौका पाकर वह किसी के यहाँ से आधा सेर अन्न या आटा उठा लेता है। बस, कानून की निगाह में वह चोर है, और उसे चोरी का दण्ड मिलना चाहिए। यह नहीं सोचा जाता कि उसने 'चोरी' क्यों की। क्या वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था बहुत निन्दा के योग्य नहीं है, जिसमें एक मेहनत मजदूरी करनेवाला भला आदमी 'चोरी' करने के लिए मजबूर होता है? अगर इस पहलू पर विचार किया जाय तो मुख्य प्रश्न परिस्थिति के सुधार करने का है।

दूसरी मिसाल लीजिए। एक स्त्री है, उसके एक बच्चा है। जब उसे खाने को कुछ नहीं मिलता तो उससे अपना और बच्चे का दुख नहीं सहा जाता। वह अपने बच्चे को मार कर खुद भी इस जिन्दगी से छुट्टी लेना चाहती है। वह अपने बच्चे को मारती हुई पकड़ी जाती है। कानून के निगाह में वह हत्या की दोषी है! और उसे उसका दंड मिलना चाहिए; वह दंड फाँसी न हो तो कालापानी या लम्बी कैद अवश्य हो। अगर सहृदयता से विचार किया जाय तो वह स्त्री, जो अपनी प्यारी संतान को मारने को मजबूर होती है, कभी भी दोषी न समझी जाय। जो स्त्री स्वयं अपने प्राणों का मोह छोड़ चुकी है, उसे दण्ड देने की बात करना कानून का उपहास करना है। इस तरह की और भी मिसालें दी जा सकती हैं। ये चोरी और हत्याएँ कानूनी दंड से बन्द नहीं हो सकतीं। इन्हें हटाने के लिए इनके मूल कारण का विचार करना, और सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का सुधार करना होगा।

तुम सफल नागरिक बनना चाहते हो तो तुम्हें आँख मीच कर हर समय कानून का समर्थन करनेवाला न होना चाहिए। तुम्हें समाज-नीति, अर्थ-नीति और शासन-नीति का अध्ययन और मनन करने वाला,

और इनमें समय-समय पर सुधार करनेवाला होना चाहिए। अनेक देशों में बहुत से कानून ऐसे हैं, जिनसे नागरिकों की स्वाधीनता का अपहरण होता है। बहुत से अधिकारियों का यह स्वभाव ही होता है कि वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया करते हैं। ऐसे अवसरों पर अच्छे वकील ही जनता की रक्षा कर सकते हैं। जगह-जगह वकीलों की ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिएँ, जो जनता के नागरिक अधिकारो में अनुचित हस्तक्षेप करनेवाले कानूनों का अच्छी तरह अध्ययन करें, और उन्हें सुधरवाने या बदलवाने का सङ्गठित आन्दोलन करें। जब कभी कोई अधिकारी अपने अधिकार का दुरुपयोग करता पाया जाय, वकीलों की संस्था को उसका डटकर विरोध करना चाहिए।

वकील साहब! तुम दीन दुखी जनता की वकालत करो; किसी नौकरशाही या पूंजीशाही आदि की नहीं। अपना कर्तव्य पालन करके तुम अपना उत्थान करो और ऊँचे दर्जे की नागरिकता का परिचय दो।

---

[११]

धर्म-प्रचारक बननेवाले से

तुम्हारा यह कहना बिलकुल ठीक है कि धर्म के नाम पर आज दिन हर देश और हर समाज में बड़ा अधर्म हो रहा है। हर एक धर्म के माननेवाले बहुत से आदमियों में अनेक कुरीतियाँ, राग-द्वेष, अहंकार और आडम्बर हैं। ऐसी दशा में तुम्हारा इस समस्या को हल न कर सकना स्वाभाविक ही है कि तुम किस धर्म के प्रचार में अपनी शक्ति लगाओ। इस बारे में तुम मेरे विचार जानना चाहते हो।

जब-जब समाज में कुछ विकार बढ़ जाता है, तब-तब नई व्यवस्था की आवश्यकता होती है। पुराने धर्म से काम नहीं चलता; नए सिद्धान्तों का प्रचार करना पड़ता है। पीछे नए धर्म में भी कुछ दोष आ जाता है, तब उसका भी सुधार किया जाता है। यह चक्र चलता रहता है। बगीचा है, भाँति-भाँति की सुगन्ध देनेवाले, सुन्दर मनोहर पुष्प वाले पौधे लगे हुए हैं। तनिक बेपरवाही हुई, कुछ समय तक ध्यान न दिया गया, बस नतीजा यह होता है कि घास-फूस आदि बढ़ जाता है; यहाँ तक कि फूलों के पौधों को काफी खुराक नहीं मिल पाती, वे दब जाते हैं और कूड़ा-कर्कट बढ़ता रहता है। अन्त में दर्शक को ऐसा मालूम होता है कि यहाँ निरा घास-फूस ही है, इसे उखाड़ फेंका जाय तो ठीक होगा। हमारे विविध धर्मों की आज यही दशा है। जिस धर्म ने मनुष्य को मानवता का ज्ञान कराया और पशुता से मुक्त किया, आज वह अनेक दशाओ में मनुष्यों के लिए अभिशाप हो रहा है। उस के विरुद्ध कहीं तो कुछ दबी ज़बान में, और कहीं स्पष्ट शब्दों में विद्रोह हो रहा है। यह परिस्थिति कितनी चिन्ता-जनक है।

हिन्दू धर्म की ही बात लें। हमने विश्वबन्धुत्व का आदर्श रखा, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त बनाया, प्राणिमात्र में एक ईश्वर की सत्ता मानी। पर अब क्या हो रहा है! प्राचीन काल में हूण, सीथियन आदि अनेक जातियों को अपनाने और अपने में मिला लेनेवाला यह धर्म अब सैकड़ों वर्षों से साथ रहनेवाले मुसलमानों से सम्मान-पूर्ण समझौता करने में असमर्थ हो रहा है। यही नहीं, हम जिन्हें अपना अङ्ग कहते हैं, उनके प्रति हमारी क्या भावना है! हरिजन आन्दोलन को इतना समय हो जाने पर भी हम परिस्थिति में कितना सुधार कर पाए हैं! उन बेचारों को यदि किसी संस्था में नौकरी मिल जाती है तो वह व्यक्ति-विशेष की कृपा के कारण या संस्था की उदारता का

प्रदर्शन करने के लिए ही मिलती है। अन्यथा संस्था के अधिकारी सामाजिक दृष्टि से अपने आपको बहुत ऊँचा और उन्हें बहुत नीचा मानते हैं। यदि हरिजन उस नौकरी को छोड़ नहीं देते तो इसका कारण या तो यह होता है कि बेकारी का जमाना है, उन्हें अन्यत्र नौकरी मिलना सहज नहीं; अथवा यह कारण होता है कि अपमान सहते-सहते उनकी स्वाभिमान और स्वतन्त्र चिन्तन की भावना नष्ट हो गई है।

आधुनिक राजनीति में संख्या-बल बड़ा बल माना जाता है। इसलिए हम चाहते हैं कि हरिजन आदि की गणना हिन्दुओं में हो। इसके लिए हम सबूत देने और अपना दावा पुष्ट करने में कमी नहीं करते। हम कहते हैं कि वे राम और कृष्ण को मानते हैं और वे हिन्दुओं की रीति रस्म का पालन करते हैं, इसलिए वे हिन्दू ही हैं। पर हिन्दू कहते हुए भी हम उनसे अपनेपन का व्यवहार कहाँ करते हैं! हम दूसरे धर्मवालों की कट्टरता की शिकायत करते हैं, पर हम अपनी बात व्यवहार को देखें; हम स्वयं कितने कट्टर हैं। हम अपनी जाति-विरादरी के अयोग्य और अशिक्षित आदमी का भी जितना आदर करते हैं, उतता दूसरे आदमियों का कहाँ करते हैं! हम कहने को भले ही गुणों के प्रशंसक हों, वास्तव में हम जाति और वर्ण के पुजारी हैं। ओफ! संसार भर को अपने झंडे के नीचे लानेवाले धर्म की यह संकीर्णता; और हाँ, कट्टरता! हम राजनीतिक प्लेटफार्म से चिल्ला चिल्ला कर यह शिकायत करते हैं कि किसी आदमी को चेयरमैन या सेक्रेटरी का भाई भतीजा होने से कोई रियायत नहीं मिलनी चाहिए, पर अपने निजी या सामाजिक व्यवहार में हम कुछ आदमियों को केवल इसी करण सम्मान देते हैं कि वे एक खास जाति में जन्मे हैं। हम मनुष्य की कीमत आँकते समय उसकी जाति-बिरादरी को विशेष महत्व दे देते हैं। फिर भी हम उदार-दृष्टिवाले बनने का दम भरते हैं। क्या हमने अपने धर्म को जीर्ण-

शीर्ण नहीं कर दिया है ?

तनिक इसलाम धर्म का विचार करें। अपने आदिकाल में इन धर्म ने धार्मिक स्वतन्त्रता, सरल और सादा जीवन, भाईचारे तथा प्रजातन्त्र का कैसा विलक्षण उदाहरण उपस्थित किया ! विशेषतया पहले तीस वर्ष तक खलीफाओं ने सादगी का जीवन व्यतीत करने में गजब कर दिया। बड़े-बड़े साम्राज्य के प्रधान शासक होकर भी साधु-सन्तों का सा रहनसहन रखना कोई साधारण बात नहीं है। तथापि उन खलीफाओं को हर घड़ी यह ध्यान रहता था कि हमारे शासन में कुछ आदमी गरीब भी तो रहते हैं, फिर हमें विशेष सुविधाओं का क्या अधिकार है ! जनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र का यह आदर्श एक सोचने-समझने की चीज़ है। पर आज दिन तो कुछ मुस्लिम 'नेता' यह कह रहे हैं कि भारतवर्ष प्रजातन्त्र के योग्य नहीं है, यहाँ प्रजातन्त्र का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। इतिहास का विद्यार्थी जब ऐसी बात किसी मुसलमान के मुँह से सुनता है तो उसे आश्चर्य और दुख हुए बिना नहीं रह सकता। यह कौनसे मुसलमान हैं, और यह कैसा इसलाम धर्म है, जो भाईचारे, विशाल बिरादरी और प्रजातन्त्र के विरुद्ध आवाज़ उठाता है। मुसलमानों से तो यह आशा की जानी चाहिए कि वे स्वाधीनता, प्रजातन्त्र और भ्रातृभाव की स्थापना के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहें। कैसी विचित्र स्थिति है ! जब कितने ही देशों में जनता प्रजातन्त्रवाद से मानो अपरिचित थी, इसलाम ने वहाँ इसका संदेश पहुँचाया। अब, जबकि संसार बहुत कुछ आगे बढ़ गया है—जगह-जगह लोकमत प्रजातन्त्र के अनुकूल हो रहा है—तो इसका विरोध वे लोग करते हैं, जो अपने आपको इसलाम धर्म के अनुयायी या हामी कहने का दम भरते हैं। यह धर्म का कायापलट है, या इसलाम के अनुयायी ही उसे गलत तरीके से जनता के सामने रख रहे हैं। इसलाम धर्म के

आलिमों, विद्वानों और आचार्यों के लिए यह गम्भीर और विचारणीय विषय है।

ईसाई धर्म के विषय में भी भारी समस्या मौजूद है। जहाँ तक सिद्धान्त और आदर्श की बात है, वे बहुत अच्छे हैं। पर साधारण आदमी तो पेड़ की पहचान उसके फलों से करते हैं। महात्मा ईसा ने कहा था कि जो तुम्हारे दाएँ गाल पर चपत लगाए, उसकी ओर तुम अपना बायाँ गाल भी कर दो। आह! अहिंसा का कितना ऊँचा विचार है! पर दूसरों की क्या कहें, स्वयं ईसाई जगत में हा इतिहास के वह पृष्ठ लिखे गए हैं, जिनमें बताया गया कि इसाई त्योहार दूसरे ईसाइयों के लिए हर्ष का विषय न होकर शोक और विलाप का विषय हुआ है। रोमन केथलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के एक दूसरे पर किए हुए अत्याचार काफ़ी दुखदायी हैं। अच्छा, मध्य युग की बातों को छोड़ दिया जाय। विशेष दुख की बात यह है कि आधुनिक युग में हजरत ईसा की बीसवीं सदी में, ईसाई शक्तियाँ अहिंसा का संदेश सुना-अनसुना कर रही हैं। जगत की दो-तिहाई से अधिक जनता पर ईसाई शासकों का प्रत्यक्ष या परोक्ष शासन है। ऐसी स्थिति में यदि ईसाई शासन-सत्ता हजरत ईसा के आदेशों का पालन करती तो पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य होने में क्या कसर रहती! पर यहाँ तो दूसरी ही स्थिति है। ईसाई शक्तियाँ आपस में लड़ती हैं—और अपने साथ में अपने मित्रों, पड़ोसियों या अधीन देशों को भी युद्ध में भागीदार होने के लिए आमंत्रित करती हैं।

प्रत्येक राज्य विज्ञान के नए से नए आविष्कारों का उपयोग (या दुरुपयोग!) कर रहा है और सहस्रों वर्षों की सभ्यता की वस्तुओं को जल्दी-से-जल्दी नष्ट करने का आयोजन कर रहा है। किसी निष्पक्ष आदमी को उस समय बहुत आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता, जब वह एक राज्य को परमपिता परमात्मा से अपनी विजय, और दूसरे की पराजय,

के लिए प्रार्थना करते देखता या सुनता है। क्या वह परमात्मा उसी राज्य की जनता का पिता है? क्या दूसरे राज्य की जनता किसी दूसरे परमात्मा की संतान है? प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने आपको परमात्मा की सबसे अधिक प्यारी संतान मानते हैं। क्या परमात्मा को एक समूह अधिक प्यारा, दूसरा कम प्यारा, और तीसरा उससे भी कम प्यारा है? क्या परमात्मा ऐसा पक्षपात करनेवाला है?

कुछ ऐसी ही बातें कमोवेश दूसरे धर्मों में हैं। तबियत उकता गई है—ऐसे धर्मों से!

तो क्या धर्मों को नष्ट कर दिया जाय? धर्म को नष्ट करना न तो सम्भव ही है, और न आवश्यक ही। धर्म आदमी के लिए स्वाभाविक है। यह अनन्त काल से है, और अनन्त काल तक रहनेवाला है। इसका रूप देश-काल के अनुसार बदलता रहा है, आगे भी बदलता रहेगा। इसका कभी अन्त नहीं होता। पिछले वर्षों में रूस में अधिकारियों ने धर्म को बिलकुल उठा देने की कोशिश की थी। लेकिन लोकमत के विरूद्ध उन्हें कामयाबी न हुई। धर्म वहाँ बना हुआ है; गिरजाघर हैं, और मसजिदें भी। हाँ, कहीं-कहीं ईसा की जगह लेनिन और स्टेलिन की मूर्तियाँ हैं; बहुत सी जगहों में चित्र या फोटो ही हैं। इससे मूल बात में अन्तर नहीं आता। यह साफ जाहिर है कि आदमी धर्म को किसी-न-किसी रूप में मानता ही है। ज़रूरत इस बात की है कि धर्म का दुरुपयोग न हो, हर आदमी यह समझले कि धर्म सिर्फ बाहरी रूढ़ियों, रीति-रस्मों या कर्मकांड में नहीं है; वह तो दया, प्रेम और सेवा आदि सद्गुणों में है। प्रत्येक धर्म इन गुणों के प्रचार का—नीति और सदाचार बढ़ाने का—दावा करता है। उसे व्यवहार में भी इन गुणों का परिचय देना चाहिए।

आदमी मिट्टी, पत्थर या धातुओं की मूर्ति बन कर उसे पूजता है। वह कुछ खास-खास पशु पक्षियों की भी पूजा करता है, लेकिन वह

अवहेलना करता है मानवता की, मानवी गुणों की, और मनुष्य की, जो भगवान की सबसे अच्छी रचना कहा जाता है। जब तक इस, बात में पूरा परिवर्तन नहीं होता, आदमी के धर्म-प्रेम में कोई तत्व नहीं; कुछ सार नहीं।

हर एक धर्म अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में ही अपनी सफलता मानता है; यही सब झगड़े की जड़ है। शुद्धि और तबलीग एक तरह से हमारे अहंकार या घमण्ड का सार्वजनिक रूप हैं। हम अपने धर्म को सबसे अच्छा मानते है। हमारी यह यह इच्छा रहती है कि हम दूसरे धर्म वालों को शुद्ध करके अपने धर्म में मिलावें। कुछ थोड़ी सी बाहरी क्रियाएँ कीं, और हिन्दू को मुसलमान, या मुसलमान को हिन्दू बनाया। जिसे हम पहले काफिर, और नर्क या दोज़ख में पड़ने योग्य कहते थे, वह अब धर्मात्मा, और स्वर्ग या बहिश्त के योग्य माना जाता हैं! कैसा आसान नुस्खा है, कितना सस्ता सौदा है! कैसा जादू है! पर इस जादू का प्रभाव कितनी देर रहनेवाला है! क्या किसी आदमी की प्रकृति, स्वभाव या आचरण इतनी जल्दी स्थायी रूप से बदल जाता है? आज मेरा नाम रामदास है, कल मुझे गुलाम मोहम्मद कहने लगें; या आज मैं चोटी रखता हूँ, कल दाढ़ी बढ़ाने लगूँ तो क्या इतनी सी बात से मेरा आन्तरिक जीवन बदल जायगा। क्या हिन्दुत्व और मुसलमानी केवल दाढ़ी और चोटी आदि तुच्छ बातों में ही रह गई? किसी धर्म की उँचाई की माप ऐसे आधार पर की जानी चाहिए, जिससे मनवोचित गुणों की वृद्धि हो, जिससे मनुष्यता, स्वच्छता, सहृदयता, उदारता परोपकार और सेवा-भाव आदि का विकास हो। यदि हम इस तत्व को ग्रहण करलें तो हम खुद कितने अच्छे बन जायँ, और दूसरों को अच्छे बनाने में कितनी मदद दे सकें!

शुद्धि और तबलीग राजनीतिक या कूटनीतिक चाल हो सकती है। लेकिन क्या ऐसी कमजोर नींव पर किसी समाज का निर्माण होना

चाहिए ! हमने अपने मन के मैल को नहीं धोया, अपनी पाप-वासनाओं को नहीं हटाया। हम अपनी चतुराई (और मक्कारी) से अपने दोषों को ढके हुए हैं, और दूसरे मत मजहब या सम्प्रदायवालों को शुद्ध होने के लिए आह्वान कर रहे हैं। हमारे इस व्यवहार को बलिहारी है ! हे धर्म-प्रचारक ! तू दुनिया को नीच या अशुद्ध समझने की बात छोड़ कर अपनी शुद्धि कर; सबको अपना भाई-बन्धु मान; भेद-भाव को दूर कर, उदारता-पूर्वक मनुष्यों की सेवा-सुश्रुषा कर; तभी तेरा वास्तविक कल्याण होगा।

अच्छा, सब धर्मों की जगह कोई एक धर्म रहे तो कैसा ? इससे भी लोकहित न होगा। एक-एक धर्म के अन्तर्गत जो विविध धर्म होते हैं, उनके अनुयायी भी तो आपस में मारकाट करते हैं। मुसलमानों में शिया-सुन्नियों के, और ईसाइयों में रोमन-कैथलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के, झगड़े कौन नहीं जानता ! और अब तो प्रोटेस्टेंटों की प्रोटेस्टेंटों से भी ठन जाती है। इस तरह केवल एकधर्म के होने से भी मतलब सिद्ध नहीं होगा। संसार में, विविधता है, और उसमें ही आनन्द है। यदि सब पदार्थ एक ही रंग के हों, सब आदमियों का रूप एक सा हो, खाने-पीने की सब चीजों का एक ही स्वाद हो, जीवन में क्या रस रहे ! वह नीरस हो जाय। इस प्रकार धर्मों की विविधता अच्छी ही है; हाँ, उससे अनेकता या फूट का अवसर न आना चाहिए, वरन् सब के समन्वय और मिलाप का विचार रहना चाहिए। जहाँ अनेक धर्म प्रचलित हैं, वहाँ के आदमियों को समभाव, सहानुभूति और सहनशीलता के व्यवहार का अवसर अधिक मिलता है, और इसका सदुपयोग करके यथेष्ट लाभ उठाना चाहिए।

हिन्दू यह अनुभव करें कि मोहम्मद साहब और ईसा भी उनके देवी-देवताओं जैसे ही हैं, अगर कोई आदमी ईश्वर को उन नामों से याद करता है तो क्या हर्ज है ! जब कि हिन्दू यह मानते हैं कि ईश्वर के

असंख्य नाम हैं, और वह सभी नामों से पूजा जाता है, जब कि गोपाल-सहस्र-नाम, विष्णु-सहस्र-नाम आदि पुस्तकें प्रचलित हैं तो उन अनेक नामों में यदि मोहम्मद और ईसा आदि नामों का भी समावेश हो जाय तो क्या बुराई है। हमें उनकी इज्जत करनी चाहिए। इसी प्रकार मुसलमान और ईसाई बंधुओं को चाहिए कि राम और कृष्ण के नाम से न चौंकें, बल्कि अपने पैगम्बरों की तरह इनके सद्गुणों का आदर-सम्मान करना सीखें। ईश्वर, खुदा, ईसा और ब्रह्म सब एक ही हैं। 'सईद' ने क्या खूब कहा है—

राम कहो या रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है।
दीन कहो या धर्म कहो, मतलब तो उसी की राह से है॥
इश्क कहो या प्रेम कहो, मकसद तो उसी की चाह से है।
योगी हो या सालिक हो, मंशा तो दिले आगाह से है॥
फिर क्यों लड़ता, मूरख बन्दे, यह तेरी खाम ख्याली है।
है पेड़ की जड़ तो एक वही, हर मज़हब एक-एक डाली है॥

धर्म-प्रचारक जी! अपने हृदय की संकीर्णता छोड़िए, तंगदिली दूर कीजिए, ईश्वर को सब आदमियों में और सब जगह देखिए। अगर कुछ भी आदमी या जगह ऐसी हैं, जहाँ तुम्हें वह नहीं जान पड़ता तो कुछ समय और साधना करो। जब तुम्हारे लिए हिन्दू, मुसलमान और ईसाई का भेदभाव न रहेगा; जब तुम मन्दिर, मसजिद और गिरजा को बराबर समझोगे तभी तुम धर्म-प्रचारक बनने के योग्य होगे। अगर तुम धर्म-प्रेमी हो तो तुम्हें दूसरों का दुख दूर करने में लगना चाहिए; हर दीन-दुखी की सेवा-सुश्रूषा करनी चाहिए; लोगों के सामाजिक, राजनैतिक सब तरह के बन्धन काट कर उन्हें स्वतन्त्र करने में लग जाना चाहिए। ऐसा करने से ही तुम सच्चे धर्म-प्रचारक कहे जा सकोगे।

[१२]
लेखक बननेवाले से

तुम कोई पुस्तक लिख रहे हो, और हो सके तो आगे भी लिखने का ही काम करते रहना चाहते हो। क्योंकि मैंने यह कार्य थोड़ा-बहुत किया है, और अब भी कर रहा हूँ, तुम इस काम में मेरी सलाह लेना चाहते हो।

हम कभी-कभी कोई लेख या पुस्तक इसलिए लिखते हैं कि उससे हमें आनन्द मिलता है। हम कुछ घटनाओं और दृश्यों की बात को, या अपने अनुभवों और विचारों को, इसलिए लिख कर रख लेना चाहते हैं, जिससे हमें उनकी याद रह सके। आजकल हम ज्यादातर इसलिए लिखा करते हैं कि हमारे लिखे को दूसरे आदमी पढ़ें; जिस बात को हम जानते हैं, उसे दूसरे भी जानने लगें; किसी विषय में जिस तरह के विचार हमारे मन में हैं, उसी तरह के विचार दूसरों के भी मन में हो जायँ। हमारे ज्ञान और विचार-धारा का दूर-दूर तक प्रचार हो।

अस्तु, आदमी सामाजिक प्राणी है। उसे सिर्फ अपने लिए जीने का विचार नहीं करना चाहिए। जब हम कुछ लिखने बैठें, तो अपने आप से पूछें कि इसे लिखने की क्या आवश्यकता है। क्या हमारे पास समाज के लिए कोई खास संदेश है; जिसे देने की हमारे मन में प्रबल प्रेरणा है? और, क्या हमें उस विषय का यथेष्ट ज्ञान और अनुभव है? ऐसा होने की दशा में ही हमें उस विषय पर कुछ लिखने का अधिकार होगा। जब हम किसी विषय पर लिखने का निश्चय करें तो उस विषय का जितना भी अच्छा और नए से नया

साहित्य हमें मिल सके, उसका हमें भलीभाँति अध्ययन और मनन कर लेना ज़रूरी है। इसके बाद हम अपनी रचना, निबन्ध या पुस्तक तैयार करें। हमारा मन उस विषय के ज्ञान और अनुभव से इतना भरा हुआ हो कि हमारी लेखनी बेरोक, स्वाभाविक रूप से, धाराप्रवाह चल सके। अपने विचारों को लिखकर, पुस्तक हम अपने पास रख लें। कुछ समय बीतने के बाद फिर विचार करें कि क्या वह रचना समाज की सेवा में अर्पण करने योग्य है। जब इस बार विचार करने पर भी हमें अपनी रचना की उपयोगिता में विश्वास हो तब ही उसे हम जनता के सामने लाए जाने योग्य समझें। हाँ यह तो आवश्यक है ही कि उसकी भाषा सरल और सुबोध हो; और भावों में जहाँ कहीं कुछ सुधार करना ज़रूरी हो, किया जाय।

अपनी लिखी पुस्तक में काटछाँट करने में, कभी संकोच न करो। अगर नए साहित्य के अवलोकन से या, किसी विद्वान् के साथ विचार-विनिमय करने से, तुम्हें उस विषय में कोई ऐसी बात मालूम हो जिसका पुस्तक में समावेश होना ज़रूरी और उपयोगी हो तो उसका उचित स्थान पर समावेश कर दो। इस तरह अपनी पुस्तक को अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाने की पूरी कोशिश करो। इसके लिए अगर तुम्हें पुस्तक या उसके कुछ हिस्सों को दुबारा या तिबारा कापी करनी पड़े, तो सहर्ष करनी चाहिए। इसके बाद अगर पुस्तक छपते समय तुम्हें कुछ और भी सुधार करना ज़रूरी मालूम हो तो वह भी कर देना चाहिए। तुम्हारी रचना का एक-एक वाक्य महत्त्व का हो। पुस्तक भर में कोई बात अनावश्यक, अनुपयोगी, असामयिक, अस्पष्ट, अथवा अधूरी न हो। इस तरह तुम्हारी पुस्तक का उस विषय के साहित्य में विशेष स्थान हो। निदान, किसी आदमी को लेखक बनने के लिए, अपने नाम से कोई पुस्तक छपाने के लिए जल्दबाजी न करनी चाहिए। यह बात उन लोगों के लिए तो खास तौर से विचारने की है, जो नए लेखक

हों, या जो लेखन-कार्य में प्रवेश करनेवाले हों। प्रत्येक लेखक को अपने कार्य का महत्व और उत्तरदायित्व समझ लेना चाहिए। लेखक अपने क्षेत्र के समाज पर विलक्षण प्रभाव डालनेवाला है, वह उसको बनाने और बिगाड़ने वाला होता है। उसका एक-एक वाक्य मुर्दों में जान फूंकनेवाला, निराशों में आशा का संचार करनेवाला और पाठकों को, उद्देश्य सिद्धि के लिए, बलिवेदी पर चढ़ानेवाला हो सकता है। इससे विपरीत, वह अपनी कलम से जनता को विलासी, आरामतलब और पराधीनता में सुख का अनुभव करनेवाला भी बना सकता है। इसलिए लेखक को बहुत समझ-बूझ कर चलने की आवश्यकता है। उसकी दिशा-भूल से देश रसातल को जा सकता है, भावी पीढ़ियाँ—सैकड़ों वर्षों बाद आने वाली देश-संतान—भी गुमराह हो सकती है। प्रत्येक लेखक को हर समय सावधान, सजग और सतर्क रहना चाहिए।

लेखन-कार्य की शक्ति महान है। इसलिए सभी उस शक्ति का अपने-अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने को लालायित रहते हैं। अधिकारी चाहते हैं कि लेखक तत्कालीन शासनपद्धति का गुणगान करता रहे और लोगों को सरकार का अंध-भक्त बनाए रखे। शासकों को जितना भरोसा अपने सैनिकों तथा सैनिक सामग्री का होता है, उससे कम सहारा लेखकों का नहीं होता। कारण, शासकों का अन्तिम बल तो जनता ही होती है, और, जनता सरकार के पक्ष में होगी या विद्रोह करेगी, यह बहुत-कुछ लेखकों के रुख पर निर्भर होता है। इसलिए शासक चाहते है कि उन्हें लेखकों का यथेष्ट समर्थन मिलता रहे। जो लेखक अधिकारियों की ठकुर-सुहाती बातें लिखता है, उसके लिए शासकों की थैलियों के मुँह तो खुले ही रहते हैं, राजदरबार में उसे यथेष्ट मान-प्रतिष्ठा भी मिलती है। इसके विरुद्ध, जो लेखक शासकों की निर्भीक आलोचना करता है, उन्हें खरी-खोटी सुनाने में संकोच नहीं करता, और जनता को उनके अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध

उभारता रहता है, उसे हवालात, जेल, कालकोठरी, तरह-तरह के अपमान और कष्ट मिलते-रहते हैं। लेखकों को इन दोनों में से एक बात चुननी होती है। उसका ठीक कर्त्तव्य-पालन कितना कठिन है!

लेखक को केवल शासकों का खटका नहीं रहता। समाज और धर्म के ठेकेदार भी उसे चैन नहीं लेने देते। वे लोग चाहते है कि जनता पुरानी रीति-रस्मों और रूढ़ियों की गुलाम बनी रहे; उसमें स्वतन्त्र चिन्तन की भावना पैदा न हो; वह पंचों, बुजुर्गों धर्माचार्यों और महन्तों आदि की बात को 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' माने। उनकी यह इच्छा रहती है कि बड़े या ऊँचे माने जानेवाले मुट्ठीभर आदमी वंश जाति, या धर्म के नाम पर भोग-विलास और शानशौकत का जीवन व्यतीत करते रहें, और शेष जनता उनके लिए सुख के साधन जुटाने में मरती-खपती रहे। वे जमींदारी, नवाबी, ताल्लुकेदारी, पूँजीवाद या साम्राज्यवाद आदि के अत्याचारों के विरोध में कभी चूँ नहीं करते। वे सर्वसाधारण की मानसिक उन्नति की बात नहीं सोचते, वे उनके भोजन, वस्त्र, विश्राम, स्वास्थ्य आदि शारीरिक आवश्यकताओं की भी फिक्र नहीं करते। वे चाहते हैं कि लेखक ऐसी कथा-कहानी, उपन्यास आदि लिखता रहे कि जनता में क्रान्ति या सुधार की भावनाएँ न जगें; मौजूदा हालत में कुछ फेर-बदल न हो, और, समाज और धर्म के अपने आप बने हुए नेताओं की सुख-शान्ति में खलल न पड़े। अब यदि लेखक जनता को जागृति और स्फुर्ति का सन्देश देता है तो उसे समाज और धर्म के ठेकेदारों द्वारा तरह-तरह की तकलीफें मिलना स्वाभाविक ही है।

आह! कलम का धंधा करना कुछ मजाक नहीं है। हे लेखनी उठानेवाले! तुम में शस्त्रधारी से भी अधिक साहस और धैर्य होने की ज़रूरत है। तुम्हें हरदम दुधारी तलवार पर ही नहीं, तिपहलू खंजर पर

चलना है। शासन, समाज और धर्म तीनों का विरोध सहने के लिए तुम्हें तैयार रहना है। क्या तुम इस तेहरी लड़ाई में डट सकोगे? अपने आत्मबल की अच्छी तरह जाँच कर लो। सोच लो, इस मैदान में कायरों का काम नहीं। यदि तुम अपने अन्दर कुछ कमजोरी महसूस करते हो तो ठहर जाओ! अभी कुछ और साधना करो। अपने-आप को बलवान बनाओ। निडर बनो। तुम्हें कोई धमका या डरा न सके, और न तुम किसी लोभ में फँस सको।

एक मुसीबत और भी है। प्रत्येक धंधा इसलिए किया जाता है कि उसके द्वारा यदि विशेष आमदनी न भी हो तो कम-से-कम जीवन-निर्वाह तो होता रहे। पर कलम का धंधा ऐसा है कि यदि लेखक बहुत सिद्धान्तवादी बनता है, तो उसे अपनी रोटी-कपड़े की चिन्ता से भी मुक्ति नहीं मिल सकती। जो लोग उसकी कृति के ख़रीददार होने की शक्ति और साधन रखते हैं, उनसे तो लेखक का संघर्ष ही रहता है। और, जिन सर्वसाधारण आदमियों के हित-साधन में वह लगा रहता है, उनमें से कुछ तो निर्धन होते हैं, और कुछ में ऐसी क्षमता नहीं होती कि लेखक की उपयोगिता को ध्यान में लावें और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का विचार करें। क्या बेचारा लेखक हवा खाकर ही जीवित रहे, और क्या वह अपने रहने के लिए गुफा या पेड़ों का आश्रय ले! कुछ आदमी निठल्ले 'साधु महात्माओं' को ढूंढ़-ढूंढ़ कर उन्हें बढ़िया भोजन-वस्त्र प्रदान करते हैं, कुछ लोग चींटियों की तलाश करके उन्हें आटा दिया करते हैं, क्या समाज में ऐसे सहृदय आदमी न मिलें, जो श्रमजीवी लेखक की सुकृतियों के ग्राहक बनें और उसे अपना सेवा-कार्य करते रहने में प्रोत्साहन दें? जो हो, लेखक को तो अपने संरक्षकों की तलाश न कर, अपना बलिदान करते हुए भी, अपना 'धंधा' चलाना है!

कुछ आदमी सोचते हैं कि लेखक की जनसाधारण में बहुत ख्याति

या प्रतिष्ठा होती है, हम भी लेखक बनकर प्रसिद्धि क्यों न प्राप्त कर लें। बस, वे अपने ज्ञान या अनुभव की मात्रा का विचार किए बिना ही, ओछी पूँजी से व्यापार करने चल देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि जल्दी ही उन्हें असफल या दिवालिया बनना पड़ता है।

कुछ धनी या सम्पन्न आदमी अपने ज्ञान या अनुभव की पूँजी को लेखक बनने के लिए अपर्याप्त तो समझते हैं, परन्तु प्रतिष्ठा पाने की कामना उनके हृदय में ऐसी प्रबल होती है कि वे उस पर नियन्त्रण नहीं कर सकते ! वे सोचते हैं कि हम दूसरों की सेवाएँ सहज ही खरीद सकते हैं। आर्थिक युग में जिस प्रकार अनेक श्रमी अपने श्रम को बेचने के लिए व्याकुल रहते हैं, कितने ही लेखक भी ऐसे होते हैं जो अपने लेख का पारिश्रमिक द्रव्य रूप में पा लेने से भी संतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें इस बात पर विचार करने का अवकाश या सुविधा नहीं होती कि उनकी कृति संसार में किसके नाम से प्रकट हो। उन्हें जीवन-निर्वाह की चिन्ता होती है, और जब उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती नजर आती है तो उन्हें गुमनाम बने रहने में कोई आपत्ति नहीं होती। इस परिस्थिति का परिणाम यह है कि कितनी ही रचनाएँ ऐसे लेखकों के नाम से सर्वसाधारण के सामने आती हैं, जो उस रचना के विषय में सर्वथा अनजान होते हैं, और उसकी भाषा से भी नाममात्र को परिचित होते हैं, जिन्होंने उसके लिए कोई परिश्रम नहीं किया है, जिन्होंने कुछ धातु के टुकड़े (सिक्के) अथवा कागज के टुकड़े (नोट) एक श्रमजीवी लेखक को देकर उसकी कृति खरीद ली है। वह बात तो अब गए—गुजरे पुराने जमाने की होती जा रही है, जब लेखक एक कलम घिसनेवाला श्रमी होता था। अब तो धनी-मानी आदमी अपने रुपए के बल से काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, विज्ञान आदि चाहे जिस विषय के विद्वान की सेवाएँ खरीद कर स्वयं लेखक प्रसिद्ध हो सकता है। सचाई और ईमानदारी के प्रेमी प्रत्येक लेखक से

यह आशा की जाती है कि वह इस कपट-व्यवहार में सहयोग न करे। वह अपने श्रम का पारिश्रमिक लेने के साथ ही इस बात पर दृढ़ रहे कि उसकी कृति उसके ही नाम से प्रकाशित हो।

हम प्राचीन काल के उन महान लेखकों के प्रति बहुत आदर और श्रद्धा रखते हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना करके भी अपनी कीर्ति की कामना न की। उन्होंने निष्काम भाव से रचना की; नाम की परवा न की; अपने ग्रन्थों पर रचयिता की हैसियत से अपना नाम नहीं लिखा। अवश्य ही उनकी इस अनासक्ति के कारण आज दिन यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि किस ग्रन्थ का रचयिता कौन है। पर उस समय लोगों में यह भावना न थी कि दूसरों के परिश्रम का अनुचित लाभ उठावें, दूसरों की रचनाओं को अपने नाम से जनता के सामने रखें। आजकल तो आदमी बिना परिश्रम किए, परिश्रम का श्रेय ले लेना चाहते हैं।

धनवानों की बात ऊपर कही गई है, वे अपने 'हाथ का कुछ मैल' देकर परिश्रम से मुक्ति पाजाना चाहते हैं। उनके अतिरिक्त एक दूसरा दल और है, इसके पास देने के लिए अपने 'हाथ का मैल' भी नहीं होता, तो भी यह नामवरी पाने के लिए लालायित रहता है। इस दल में उन लोगों का समावेश होता है, जो प्रायः निर्धन होते हैं। ये कुछ पढ़-लिख सकते हैं, परन्तु इन्हें अपने विषय का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता। ये किसी नामी लेखक या कवि की कोई पुरानी रचना लेते हैं, और उसमें कुछ कतरव्योंत करके उसे नया शीर्षक देकर अपने नाम से छपवा लेते हैं। ये समझते हैं कि पुरानी चीज की पाठकों को याद न रही होगी, और हम उन्हें सहज ही धोखा दे सकते हैं; कोई हमारी चोरी नहीं पकड़ सकेगा; सब यही ख्याल करेंगे कि जो रचना हमारे नाम से छप रही है, वह असल में हमारी ही है; उसका यश हमें मिलेगा। कुछ लोग कभी-कभी यह 'साहित्यिक चोरी'

पैसे के लोभ से भी करते हैं। बहुधा आगे-पीछे ये पकड़े जाते हैं। पाठक इनकी करतूतों से परिचित होने पर इन्हें भली-बुरी सुनाते हैं, और पीछे इनका विश्वास उठ जाता है। अस्तु जिसने चोरी की है, वह चोर है, चाहे वह पकड़ा जाय, या न पकड़ा जाय। उसने अपना पतन किया है, और वह भी साहित्य के क्षेत्र में आकर। मुझे पूर्ण आशा है, तुम ऐसे कुमार्ग में जाने का विचार ही न करोगे।

लेखन-कार्य करते हुए तुम्हें अपनी विनयशीलता को बराबर बनाए रखना है। क्षण भर के लिए भी यह न सोचो कि मैं अब दूसरों के पढ़ने के लिए साहित्य तैयार करने लग गया हूँ तो मैं बड़ा विद्वान हो गया हूँ। हर आदमी को सदैव विद्यार्थी की सी भावना रखनी चाहिए, उसे अपना ज्ञान निरंतर बढ़ाते रहना चाहिए, अपने विषय की नई से नई पुस्तक को अवलोकन करते रहना चाहिए, जिससे वह अपने समय से पीछे न रहे, और किसी बात में पुराने दकियानूसी विचारों को न लिए बैठा रहे। तुम जानते ही हो, ज्ञान का भंडार केवल पुस्तकों में सीमित नहीं है, वह तो हर जगह बिखरा पड़ा है, जिसका जी चाहे संग्रह करले। प्रकृति की विशाल पुस्तक खुली पड़ी है; बन जंगल, नदी पहाड़, पशु पक्षी, जलचर, थलचर और नभचर अनेक शिक्षाएँ लिए हुए हैं; कोई उनसे ग्रहण करनेवाला होना चाहिए। लेखक को चाहिए कि वह प्रकृति के अतिरिक्त जनता के भी सम्पर्क में रहे, और विविध प्रकार के मनुष्यों के जीवन-व्यवहार का अध्ययन करता रहे। ऐसा करने पर ही वह अपनी कृति द्वारा पाठकों को अच्छी सामग्री देते रहने में सफल होगा।

शायद तुम यह पूछो कि किस विषय पर लिखना ठीक होगा। इस विषय में मैं कोई निश्चित और ब्योरेवार परामर्श नहीं दे सकता। संकेत रूप से मैं इतना ही कहूँगा कि जिस विषय का तुम्हें विशेष ज्ञान और अनुभव हो, जिस विषय पर लिखने के लिए तुम्हारे मन में प्रबल

प्रेरणा हो, जिसके लिए तुम्हारा हृदय एक प्रकार से बेचैन हो, उसी विषय पर लेखनी उठाओ। यह भी देखलो कि जो चीज़ तुम पाठकों को देना चाहते हो, उससे उनका हित होगा। यदि बहुत कुछ उसी प्रकार की रचना किसी की पहले से विद्यमान है तो तुम्हें व्यर्थ में उसकी प्रतिद्वन्द्विता करने की आवश्यकता नहीं।

एक खतरे से सावधान रहने की बहुत ज़रूरत है। अकसर नया लेखक चाहता है कि मेरी पुस्तक के लिए किसी बड़े आदमी की सिफारिश मिल जाय, कोई सुप्रसिद्ध विद्वान उसकी भूमिका लिखदे, अखबारों में उसकी तारीफ से भरी समालोचनाएँ छपें, पुस्तक किसी शिक्षा संस्था में पाठ्य पुस्तक बन जाय, और अगर मुमकिन हो तो किसी साहित्यिक संस्था से उस पुस्तक पर कुछ पुरस्कार भी मिल जाय। जब कोई लेखक इन बातों के लिए भली-बुरी सब तरह कोशिश करता है, तो उसका काम लेखक के गौरव को घटानेवाला तो होता ही है, उससे साहित्य का मान या स्टेन्डर्ड गिरता है, और समाज को भारी क्षति पहुँचती है। लेखक के जो यार-दोस्त ऐसे काम में सहायक होते हैं, वे भी बहुत दोषी हैं। वे साहित्य की प्रगति में बाधक होकर जनता का बड़ा अनिष्ट करते हैं।

मैंने पहले कहा है कि तुम्हारी प्रत्येक रचना लोकहित के लिए होनी चाहिए। यदि कोई वस्तु बाजार में यथेष्ट ग्राहक पा लेती है, और वह जल्दी ही बिक जाती है, तथा अपने बनानेवाले के लिए खूब आमदनी का साधन हो जाती है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह चीज़ जनता के लिए हितकर है। सम्भव है अनेक आदमियों की रुचि बिगड़ी हुई हो, उन्हें तामसी या राजसी बातें ही बहुत प्रिय लगती हों, उन्हें सात्विक विचार न सुहाते हों। ऐसी दशा में किसी लेखक का यह कहना कि हम तो लोकरुचि के अनुसार साहित्य देकर जनता की माँग पूरी कर रहे हैं, कहाँ तक उचित है! यह विचार भी ठीक नहीं है कि

हम तो सत्य के प्रेमी हैं, और नग्न सत्य का प्रचार करना हमारा कर्त्तव्य है। संसार के हर सत्य को वर्णन करना न सम्भव है और न आवश्यक ही है। प्रत्येक वस्तु-स्थिति इस योग्य नहीं होती कि उसका वर्णन किया जाय। स्वास्थ्यप्रद स्थानों में भी गन्दे पानी के बहने के लिए नालियाँ होती हैं, कोई आदमी केवल उस गंदगी का ही वर्णन करे, और वह भी अतिरंजित शब्दों में—यह कैसे क्षम्य हो सकता है! तुम यह भी न सोचो कि सौंदर्य की आड़ में चाहे-जैसी बातों को चित्रित किया जा सकता है; अनेक सुन्दर चीज़ें तो मनुष्यों को पथभ्रष्ट करने-वाली हो सकती हैं।

तुम्हारा आदर्श न केवल सत्य हो, और न केवल सौन्दर्य हो; वरन् सत्यम्, और सुन्दरम् के साथ साथ शिवम् भी हो। तुम्हारी लेखनी जनता की जीती-जागती ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डाले, और, उनको कैसे हल किया जाय, यह सुझावे। निदान, जनता के अभ्युदय में, सुधार-युग के आह्वान में, नवीन सृष्टि की रचना में, तुम्हारा यथेष्ट भाग होना चाहिए। तुम्हारी लेखनी में यह बल होना चाहिए कि वह पाठकों के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में सहायक हो। जब वह ऐसा करने में असमर्थ हो तो उसे विश्राम दो। तुम युग-निर्माता हो, अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखो। तुम कहोगे कि उपन्यास, नाटक, गल्प, कहानी आदि में हमारा उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना होता है, इसमें 'सत्यम् और शिवम्' के आदर्श का निभाव नहीं हो सकता। यह ठीक नहीं है। सरस साहित्य का आधार भी सच्ची या सम्भव घटनाएँ ही होनी चाहिएँ। कल्पित, ऊटपटांग और असम्भव बातों से पाठकों की बुद्धि में जंग लग जाता है, और उनमें स्वतंत्र रूप से सोचने-विचारने की शक्ति नहीं रहती।

तुम्हारा जीवन त्याग और सेवा के भावों से भरा होना चाहिए। तभी तुम जनता का सच्चा हित कर सकोगे। जिस तरह की बातें

तुम पाठकों को कहना चाहते हो, वैसे ही तुम्हारे विचार और कार्य होने चाहिएँ। अपने मन में हिन्सा, छल-कपट और राग द्वेष के भाव रखनेवाले को यह शोभा नहीं देता कि वह प्रेम और त्याग का उपदेश करे। यदि वह ऐसा उपदेश देने का दुस्साहस करता है, तो उसका कुछ उपयोग नहीं। तुम्हें निष्पक्ष भी होना चाहिए। अपने मित्र की बहुत अधिक प्रशंसा या विरोधी की बहुत अधिक निन्दा करना उचित नहीं। श्री० विलियम लायड गेरीज़न के शब्दों में तुम्हारा सिद्धान्त यह होना चाहिए—"मैं सत्य की तरह कठोर हूँगा; मैं न्याय की तरह अचल और किसी से समझौता न करनेवाला हूँगा; मैं गोलमोल लगोलिपटी बातें नहीं करूँगा, मैं अपने आदर्श से एक इन्च भी पीछे नहीं हटूँगा।'

साहित्य-कार्य करनेवाले का कर्तव्य है कि चारों और प्रकाश फैलाए, अज्ञान का अंधकार मिटाए, हरेक अन्याय का विरोध करे, लोगों के गलत विचार और धारणाओं को सुधारने की कोशिश करे; चाहे ऐसा करने में उसे किसी सत्ता से टक्कर लेनी पड़े। लेखक! तुम दुनिया के बल हो; मनुष्य-समाज को बलवान बनाओ, अनीति को हटाओ। लेकिन, इसके लिए पहले अपनी शुद्धि करो। जब तक तुम्हारा चरित्र अच्छा नहीं होता, तुम्हारी भाषा में बल नहीं हो सकता। तुम अपनी कमजोरी दूर करो। तुम्हारी कलम बेज़बानों की ज़बान है। तुम दीन दुखी जनता के अवैतनिक या बिना मेहनताने के वकील हो। तुम्हारा मुकाबिला या विरोध करनेवाले हैं, बड़े-बड़े सत्ताधारी। लेकिन तुम्हें उनसे घबराने की ज़रूरत नहीं। अपना फर्ज़ पूरा करते हुए बढ़े चलो। तुम्हारी जीत होकर रहेगी। जब तक तुम अपने उद्देश्य के प्रति सच्चे और ईमानदार हो, तुम्हारी हार भी जीत ही है। अपनी महान शक्ति में विश्वास रखो और उसका सदुपयोग करो।

———

[१३]

प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता बननेवाले से

तुम अब पुस्तकें छपाने और बेचने का धंधा करने की सोच रहे हो। इस अवसर पर मैं इस काम के बारे में कुछ बातों की तरफ तुम्हारा ध्यान दिलाना ज़रूरी समझता हूँ।

आजकल बहुत से आदमी प्रकाशक को बहुत लोभी और खुदगर्ज समझते हैं। उनकी यह धारणा कुछ नीचे दर्जे के प्रकाशकों का व्यवहार देख कर हो गई है। असल में देखा जाय तो प्रकाशक का काम समाज के लिए बहुत जरूरी और फायदेमंद है; और, जो आदमी इस काम को सच्चाई और ईमानदारी से करता है, वह जनता का बड़ा हितैषी है। वह ज्ञान की रोशनी को देश के कोने-कोने में पहुँचाता है। अगर उसकी मदद न मिले तो लेखक की योग्यता से लोगों को विशेष लाभ न पहुँचे; उसकी लिखी किताब बस्ते में बँधी रखी रहे; उस पुस्तक को लेखक के नजदीक रहनेवाले, मित्र रिश्तेदार और शिष्य आदि ही देख सकें। पीछे वह सड़-गल जाय, या दीमकों का भोजन बने। यह प्रकाशक ही है, जो लेखक का सदेश दूर-दूर तक पहुँचाता है, उसकी कृति को आनेवाली पीढ़ियों तक के लिए सुरक्षित बनाए रखने की योजना करता है। प्रकाशक के द्वारा लेखक को अपनी आजीविका प्राप्त होती है, और वह भविष्य में अधिकाधिक सेवा करने को प्रोत्साहित होता है। एक लेखक को अपने कार्य में सफलता मिलते देखकर अन्य योग्य आदमियों के मन में इस क्षेत्र में प्रवेश करने का विचार आता है, और फिर इनको अच्छे प्रकाशक मिल जाने से ये भी उत्साहपूर्वक समाज का ज्ञान बढ़ाने में भाग लेने लगते हैं। इस प्रकार प्रकाशक

लेखकों का बड़ा सहायक और संरक्षक है, और ज्ञान की ज्योति को निरंतर बनाए रखनेवाला है। ऐसे प्रकाशक जिस समाज को यथेष्ट संख्या में मिल जाते हैं, वह धन्य है; उसका उत्थान होता रहता है।

दुर्भाग्य से कितने ही प्रकाशक अपने आदर्श या उद्देश्य का ध्यान नहीं रखते। उनमें 'काली भेड़ें' ही अधिक हैं। वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन की धुन में रहते हैं। वे यह नहीं सोचते कि समाज-हित की दृष्टि से, कैसी पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता है। वे उन चीजों को आँख मींच कर छापते रहते हैं, जिनकी बाजार में खूब बिक्री होती है, चाहे वे कितनी ही कुरुचिपूर्ण हों, और चाहे उनके पढ़ने से पाठकों में कैसी ही भोग, विलास, कलह, द्वेष, छल-कपट आदि की भावनाएँ जागृत होती हों। प्रायः प्रकाशकों का कोई निर्धारित क्षेत्र नहीं होता, वे किस्सा कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता इतिहास, राजनीति आदि सभी विषयों की पुस्तक छापने को तैयार रहते हैं; शर्त यही है कि उससे उनको अच्छी आमदनी हो जाय। वे पुस्तक के विषय की विशेष चिन्ता नहीं करते; या, वहाँ तक ही चिन्ता करते हैं, जहाँ तक उसका सम्बन्ध उसकी बिक्री से होता है। हाँ, वे पुस्तक की बाहरी सजावट और सजधज का काफी ध्यान रखते हैं, यथा-सम्भव उसे सचित्र रखते हैं, और नहीं तो कम से कम उसके 'कवर' पर ही एक लुभावना, भड़कीला चित्र दे देते हैं, जिससे मनचले युवक और युवतियों को उसे खरीदने के लिए आकर्षण हो, और वे अपने जीवन-निर्वाह के द्रव्य में से भी कुछ इस पुस्तक के लिए खर्च करने पर उतर आवें; चाहे इससे बुरे विचारों को उत्तेजना मिले, और तामसी भावनाओं की वृद्धि हो।

कुछ प्रकाशक अपनी पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के लिए तरह-तरह के निन्दनीय उपाय काम में लाते हैं। वे लेखक से पुस्तक लिखा कर उसे कुछ टके दे कर विदा कर देते हैं, और पुस्तक पर नाम ऐसे आदमी का देते हैं, जिसकी खूब प्रसिद्धि हो, जिसका दूसरों पर खूब

प्रभाव पड़े, जिसके नाम के कारण उस पुस्तक को विद्यार्थियों की पाठ्य पुस्तकों में स्थान मिल जाय। यही कारण है कि हिन्दी, उर्दू, गणित, भूगोल, विज्ञान आदि की अनेक पुस्तकें ऐसे आदमियों के नाम से बाजार में आती रहती हैं, जो इन भाषाओं या इन विषयों के जानकार नहीं होते। अपनी किताब को मंजूर कराने के लिए टेक्स्ट बुक (पाठ्य पुस्तक)-कमेटियों के मेम्बरों और शिक्षा-प्रसार-अफसरों की बारबार हाजरी बजाना और जैसे बने उन्हें खुश करना तो आधुनिक प्रकाशक की एक विशेष योग्यता मानी जाती है।

कुछ प्रकाशक उन संस्थाओं या सार्वजनिक कमेटियों के सदस्यों से भी मिले रहते हैं, जो भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकों पर पुरस्कार देकर लेखकों को सम्मानित किया करती हैं। इन प्रकाशकों का यह प्रयत्न रहता है कि यथा-सम्भव इनके ही द्वारा प्रकाशित पुस्तक के रचयिता को पुरस्कार दिया जाय। इससे इनको कई लाभ होते हैं। पुस्तक की ख्याति बढ़ जाने से उसकी बिक्री बढ़ती है। अच्छे-अच्छे लेखक अपनी पुस्तक इनके द्वारा प्रकाशित कराना अच्छा समझने लगते हैं। इन्हें उनकी रचनाएँ कुछ अधिक अनुकूल शर्तों पर मिलने लगती हैं। प्राय: प्रकाशक अपने व्यवहार में सिद्धान्त या आदर्श का विचार कम ही करते हैं, वे जैसे-बने धन पैदा करने के इच्छुक रहते हैं, और उन्हें जितना अधिक धन मिलता है, उतना ही अधिक वे अपनी सफलता आँका करते हैं।

कुछ प्रकाशक अपना माल खपाने के लिए अधिक-से-अधिक कमीशन देनेकी नीति का अवलम्बन करते हैं। वे साठ-सत्तर फीसदी या इससे भी अधिक कमीशन देते हैं। इनसे पुस्तकें खरीदनेवाले, दूसरे कमीशन-एजंटों को, लगभग पचास फीसदी कमीशन पर माल बेच देते हैं। ये कमीशन-एजन्ट छोटे पुस्तक-विक्रेताओं को अथवा अध्यापकों या पुस्तकालय वालों को दस-बारह फीसदी कमीशन काट देते हैं। कुछ दुकानदार तो

फुटकर ग्राहकों को भी, चाहे वे आठ आने की ही किताब क्यों न लें, कुछ कमीशन देते हैं। अस्तु, इस व्यापार में मूल विक्रेता जिस पुस्तक के, पिछत्तर फीसदी कमीशन काट कर, चार आने लेता है, उसकी कीमत एक रुपया होती है, और वह अंतिम ग्राहक को प्रायः इतने ही मूल्य में मिलती है। इससे ग्राहकों को होनेवाली हानि स्पष्ट है। और, प्रकाशकों को भी इससे विशेष लाभ नहीं। यदि उन्हें कुछ सफलता भी मिले तो वह क्षणिक होगी।

जब कि प्रकाशक पुस्तक का मूल्य एक रुपया रख कर उसे चार आने में बेचेगा, तो प्रकाशक को इसमें क्या बचेगा, और वह लेखक को क्या पारिश्रमिक दे सकेगा! इस चार आने में दो आने कागज और छपाई का खर्च मान लिया जाय तो शेष दो आने में प्रकाशक अपना भी कुछ लाभ चाहेगा, फिर लेखक को वह जितना कम दे सकेगा, उतना कम देना उसके लिए स्वाभाविक है। इस दशा में उच्च कोटि की पुस्तकों की रचना कैसे हो सकती है! यदि कहा जाय कि एक रुपए के मूल्य वाली पुस्तक ऐसी रखी जाय, जिसमें कागज छपाई आदि का खर्च दो आने से भी कम हो, तो यह ग्राहकों को सरासर लूटना है, और इसे व्यापार कहना भूल है। निदान, प्रकाशकों की, बहुत अधिक कमीशन देकर, जैसे भी हो, अपना माल निकालने की नीति बहुत अनुचित है; इससे बीच के दलालों की अनावश्यक वृद्धि होती है।

कितने ही पुस्तक-विक्रेता अपनी दुकान पर बेचने के लिए वही माल रखते हैं, जिस पर उन्हें अधिक-से-अधिक कमीशन मिलता है, चाहे वह कितनी ही निकृष्ट श्रेणी का हो। वे उस अच्छे माल को अपने यहाँ रखने को तैयार नहीं होते, जिस पर कमीशन कम मिले। ये लोग कभी-कभी एक-दो पुस्तकें अपनी भी छपा लेते हैं। इन पुस्तकों की कीमत खूब अधिक रखी जाती है, और इनके परिवर्तन में कुछ अन्य पुस्तकें संग्रह करली जाती हैं। जो लोग अपनी पुस्तक का मूल्य

कम रखते हैं, वे इस पुस्तक-परिवर्तन के व्यापार में सम्मिलित नहीं हो सकते। यह देख कर बहुत से आदमियों के मन में अपनी पुस्तक का मूल्य बढ़ा-चढ़ा कर रखने की प्रवृत्ति होती है, जो सर्वथा हानिकर है।

कुछ प्रकाशक तो बहुत ही नीच मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। जब उन्हें मालूम होता है कि एक लेखक की किसी पुस्तक की बाजार में माँग बहुत है, तो वे झट किसी दूसरे लेखक को इस बात पर राजी कर लेना चाहते हैं कि वह उस पुस्तक के नाम से मिलते हुए नाम की दूसरी पुस्तक तैयार करके इन्हें देदे। इस प्रकार ये दूसरे प्रकाशक की पुस्तक की जगह अपनी पुस्तक बेचने तथा खूब मुनाफा हासिल करने का अवसर पा लेते हैं।

कोई-कोई प्रकाशक दूसरा ही अंधेर करते हैं। उनके पास अनेक लेखक अपनी पुस्तक छपाने के लिए भेजते हैं, अथवा वे खुद लेखकों से उनकी कृतियों की माँग करते हैं। जब अच्छी पुस्तकों के लेखक नाममात्र की भेंट लेकर अपनी रचना इन्हें प्रकाशनार्थ देने को तैयार नहीं होते, तो ये उन रचनाओं में से कुछ भाग नकल करा लेते हैं, और पीछे इसमें कुछ जोड़-तोड़ करके, इसे अपनी पुस्तक के रूप में छपा देते हैं। मूल लेखक को उसकी हस्तलिखित प्रति काफ़ी देर में लौटाते हुए प्रकाशक कह देते हैं कि 'हमें आपकी पुस्तक कुछ अच्छी नहीं जँची', या 'हम विषय की दूसरी पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं, खेद है कि आपकी पुस्तक छपाने में हम असमर्थ हैं।' आह! लोभी और स्वार्थी प्रकाशकों ने अपना मतलब सिद्ध करने के लिए कैसे-कैसे उपायों का आविष्कार कर रखा है!

कुछ प्रकाशक तो लेखकों दी जानेवाली 'रायल्टी' के हिसाब में भी गड़बड़ कर डालते हैं। पुस्तक की हजार प्रति छपाई और कह दिया कि पाँच सौ प्रति छपाई गई हैं, जिससे लेखक को पाँच सौ प्रतियों की रायल्टी से सहज ही वंचित किया जा सके। अथवा, किसी पुस्तक

के उसी या दूसरे संस्करण की कीमत बढ़ा दी, और लेखक को रायल्टी दी, पहले वाली कम कीमत पर ही।

दूसरी बात लें। पुस्तक की कुछ प्रतियाँ सम्पादकों को समालोचना के लिए या शिक्षा-संस्थाओं को नमूने के तौर से दी जाती हैं। ऐसी प्रतियों की संख्या यदि ५० हुई और लेखक को कह दिया गया कि २०० प्रतियाँ भेंट में गईं तो लेखक उसकी कहाँ जाँच करने बैठता है; और, यदि वह जाँच करना चाहे तो प्रकाशक सहज ही यह कह सकता है 'मैंने इसका व्योरेवार हिसाब नहीं रखा, तुम्हें हमारा विश्वास करना चाहिए।' बेचारे लेखक को प्रकाशक का विश्वास करने के सिवाय और उपाय ही क्या है! उसे यह भी डर रहता है कि कहीं मेरे कुछ कहने-सुनने से प्रकाशक महाशय नाराज न हो जायँ, और आगे के लिए मुझसे सम्बन्ध न तोड़ दें। अस्तु, प्रकाशकों की ऐसी बातें निन्दनीय और त्याज्य हैं।

जब तक हमारे प्रकाशकों की नज़र निरंतर अपने मुनाफे की ही तरफ रहेगी, समाज को आवश्यक और उपयोगी साहित्य यथेष्ट परिमाण में मिलने की आशा नहीं करनी चाहिए। क्या हमारे प्रकाशक दस फी सदी पुस्तकें भी निस्स्वार्थ भाव से, नफे की आशा छोड़कर, प्रकाशित करने का विचार न करेंगे? आवश्यकता है कि वे लोकरुचि की परवाह न कर, अच्छी चीजें सुयोग्य लेखकों द्वारा तैयार करावें, और उन्हें बाजार में लाकर जनता की सुरुचि के निर्माण में यथेष्ट भाग लें। तभी अगली पीढ़ी में अच्छी चीजों की माँग बढ़ने का सुअवसर आएगा। तभी प्रकाशकों का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध होगा। आशा है, तुम अपने सामने इसी तरह के योग्य और उपकारी प्रकाशक बनने का ध्येय रखोगे।

———

[११]
सरकारी नौकर बननेवाले से
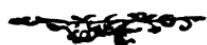
तुम्हारे सामने यह समस्या है कि सरकारी नौकरी की जाय या नहीं। एक ओर तुम्हें यह लाभ दिखाई देता है कि इसमें अच्छी बँधी हुई आमदनी है, और आगे तरक्की की आशा है। दूसरी ओर, तुम लोगों को यह कहते, सुनते हो कि नौकरी करना अच्छा नहीं; इसमें आत्मिक पतन होता है, स्वाभिमान की रक्षा नहीं हो सकती। तुम इस विषय में मेरे विचार जानना चाहते हो।

सरकारी नौकरी में स्वाभिमान कहाँ तक और किस प्रकार रह सकता है, इसका उत्तर देने से पूर्व मैं कुछ अन्य बातों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाता हूँ। यह तो तुम जानते ही हो कि हर देश में सरकारी नौकरियों की संख्या परिमित ही रहा करती है। हाँ, स्वाधीन देशों में छोटी-बड़ी सब नौकरियाँ प्राप्त करने का मार्ग प्रत्येक नागरिक के लिए खुला रहता है। इसके विपरीत, अधीन देशों में कानून से, अथवा व्यवहार में, कितने ही उच्च पद शासक जाति वालों के लिए, या उनके कृपा-पात्रों के लिए सुरक्षित रहते हैं; इसलिए इन देशों में सर्वसाधारण को मिलनेवाली उच्च नौकरियाँ और भी कम होती हैं। भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार कम होने से, यहाँ स्कूलों और कालेजों से अभी प्रतिवर्ष, कम ही विद्यार्थी निकलते हैं, लेकिन उन सब को भी सरकारी नौकरी मिलना सम्भव नहीं। उधर, हमारे अधिकांश शिक्षित युवकों के सामने नौकरी के सिवाय और कोई काम ही नहीं होता; और, उन्हें जो शिक्षा मिली होती है, वह उन्हें दूसरे कामों के योग्य बनाती भी नहीं। जब तक युवक कृषि, उद्योग, व्यापार आदि की

ओर काफी नहीं झुकेंगे और श्रम की महत्ता नहीं समझेंगे, तथा सरकारी नौकर होने और 'बाबू' कहलाने के इच्छुक रहेंगे, उनमें से अधिकांश को निराश होना और बेकार रहना पड़ेगा—यह निश्चित है।

बड़े से बड़ा सरकारी नौकर भी किसी नागरिक को पत्र लिखते समय अपने आपको 'आपका बहुत आज्ञाकारी सेवक' ('योर मोस्ट ओबीडियंट सर्वेन्ट') लिखता है। खेद है कि यह बात केवल लिखने की रह गई है। व्यवहार में इसका ध्यान नहीं रखा जाता। ज्यादातर आदमी सरकारी पद पाकर अपने आपको जनता पर हुकूमत करनेवाला या अफसर समझने लगते हैं, और लोगों को अपना सेवक मानते हैं। वे भूल जाते हैं कि उनकी तनख्वाह का पैसा सार्वजनिक करों से वसूल होता है। इस तरह वे जनता की दी हुई कमाई खाते हैं; उसके प्रति उन्हें आदर सम्मान का भाव रखना चाहिए। लेकिन वे तो सिर्फ ऊँचे अधिकारियों को ही अपना मालिक समझते और उनका ही आदर करते हैं। यह बात बहुत खराब है। मेरा यह मतलब नहीं है कि कोई सरकारी नौकर अपने उच्च अधिकारियों के प्रति आदर-सम्मान का भाव न रखे। मेरा आशय यही है कि कोई कर्मचारी जनता के हितों की उपेक्षा न करे, सदा उसकी सेवा का ध्यान रखे; तभी वह सार्वजनिक नौकर ('पब्लिक सर्वेंट') कहलाने का अधिकारी होगा।

अब सरकारी नौकरों के ध्यान देने की दूसरी बात लें। प्रत्येक सरकारी नौकरी का वेतन नियत रहता है। जो आदमी कोई नौकरी करता है, उसे सरकार से मिलनेवाले वेतन से संतोष करना चाहिए। अगर वह यह समझता है कि वेतन उसके गुजारे के लिए काफ़ी नहीं है तो वह सरकारी नौकरी छोड़कर कोई दूसरा धंधा करे। लेकिन सरकारी नौकरी करते हुए और सरकार से वेतन लेते हुए जनता से डाली, भेंट, रिश्वत, घूस या इनाम आदि के नाम से 'ऊपर की आमदनी' वसूल नहीं करनी चाहिए। कुछ सरकारी नौकर इसे अपना 'हक'

समझते हैं; जब तक उन्हें यह 'हक' न मिले, वे लोगों का काम नहीं करते, या उसमें बहुत ढील-ढाल देते हैं। यह बहुत अनुचित है। इससे वह नौकरी बदनाम हो जाती है। सरकार के ऐसे महकमे में कोई भला आदमी नौकरी करना पसन्द नहीं करता। उसके बारे में लोकमत अच्छा नहीं रहता। इस तरह किसी सरकारी नौकर का 'ऊपर की आमदनी' लेना सरकार और जनता दोनों के लिए हानिकारक है।

बहुत से सरकारी नौकर गरीब अनपढ़ लोगों से 'बेगार' लिया करते हैं। वे उनसे अपना काम कराकर उन्हें मजदूरी नहीं देते। कितने ही कर्मचारी किराए पर चलनेवाले ताँगों या मोटरों में मुफ़्त में सफर करते हैं। और, जब सरकारी काम से जाते हैं तो ताँगे और मोटर वालों को किराया न देकर भी सरकार से पूरा सफर-खर्च वसूल करते हैं। जो आदमी सरकारी दफ़तरों में काम करते हैं, वे अपने निजी काम के लिए ही नहीं, अपने बालकों के लिए भी सरकारी स्टेशनरी (लिखने-पढ़ने का सामान) का उपयोग करना अपना स्वयसिद्ध अधिकार मानते हैं। यह ठीक नहीं; यह तो चोरी और बेईमानी ही है।

सरकारी नौकरों को अपने-अपने महकमे के नियम अच्छी तरह पालने चाहिएँ। अगर किसी को ये नियम ठीक न जचें तो उसे वह नौकरी न करनी चाहिए। जनता को भी सरकारी नियमों का ध्यान रखना चाहिए। इस विषय में एक बात विचारने की है, अनेक नियम ऐसे होते हैं कि यदि उनका अक्षरशः यानी हरफ-बहरफ पालन किया जाय तो रोजमर्रा का काम ही न चले। साधारण आदमियों से यह भी आशा नहीं की जा सकती कि उन्हें उन नियमों का पूर्ण ज्ञान होगा। उचित यह है कि नियमों की भावना का ध्यान रखा जाय, उनके शब्दों की 'बाल की खाल' न निकाली जाय। कुछ कर्मचारी नियमों की आड़ में जनता को बहुत परेशान किया करते हैं, इसमें उनका लक्ष्य लोगों पर अपना रौब गाँठना, या उनसे कुछ पैसा ऐंठना होता है।

यह बहुत खराब बात है। हम याद रखें कि नियम जनता के लिए होते हैं, और वे जनता की ज़रूरत और सुविधा के अनुसार बदलते रहते हैं। हम जनता को ही नियमों के लिए न समझें।

प्रत्येक सरकारी कर्मचारी को चाहिए कि अपना कार्य खूब मन लगाकर परिश्रम और ईमानदारी से करे। यों तो मनुष्य को चाहिए कि जो भी काम करे, उसे अच्छी तरह करे; फिर, जिस खास कार्य के लिए वह रखा जाता है, और उसे वेतन दिया जाता है, वह कार्य तो बहुत अच्छी तरह होना ही चाहिए। उसे बेगार की तरह टालना, या अधूरे मन से करना किसी नागरिक को शोभा नहीं देता। कुछ कर्मचारी अपने काम को ठीक तरह नहीं करते; अपने उच्च अधिकारियों को खुशामद या डाली-भेंट आदि से खुश रखने का प्रयत्न करते हैं। यह नीति बहुत खराब है, इसे भूल कर भी न अपनाना चाहिए।

अब सरकारी नौकरी प्रतिष्ठा की बात। स्वाधीन देशों में यह समझा जाता है कि सरकारी नौकर लोकहितकारी काम में लगा हुआ है, इसलिए जनता में उसकी ऐसी ही इज़्ज़त होती है, जैसी दूसरी उपयोगी सेवा करनेवालों की होती है। लेकिन पराधीन देशों में अकसर सरकार लोकप्रिय नहीं होती; सरकार का और देश के नेताओं का दृष्टिकोण अलग-अलग होता है। इसलिए देश-हितैषी सज्जनों की निगाह में सरकारी नौकरों का उतना आदर मान नहीं होता। यह माना जाता है कि सरकारी नौकर अपने निजी स्वार्थ के ख़ातिर काम करते हैं, उनके हृदय में लोकहित का सवाल नहीं होता; और, अगर होता है तो वह गौण होता है।

जो हो, सरकारी नौकरी करते समय नागरिक को अपने सामने निश्चित आदर्श और सिद्धान्त रखने चाहिएँ। कुछ लोग कहा करते हैं कि "नौकरी आखिर नौकरी ही है। इसमें आदमी का स्वाभिमान नहीं रहता, उसे बहुत सी बातें अपनी इच्छा या मर्जी के खिलाफ करनी पड़ती

है। अगर वह वह उन्हें नहीं करता तो अफसर नाराज़ होते हैं, और आखिर नौकरी छूटने की धमकी देते हैं।" असल में अफसरों का अपने मातहत कर्मचारियों से बहुत अच्छा व्यवहार होना चाहिए। अफसरों को उनके ऐसे ही कामों की निगरानी और नियन्त्रण करना चाहिए, जो सार्वजनिक या सरकारी कर्मचारी की हैसियत से किए गए हो। इन्हें छोड़कर, किसी कर्मचारी के निजी जीवन, रहनसहन, वेशभूषा या पहनावे आदि में किसी तरह का दखल दिया जाना ठीक नहीं। हरेक कर्मचारी को अधिकार है कि फुरसत के समय अपने मनोरञ्जन, उन्नति या लोकहित सम्बन्धी चाहे जो कार्य करे। अगर किसी कर्मचारी को यह मालूम हो कि उसके निजी कामों में बेजा दखल दिया जाता है तो उसे चाहिए कि उसका खुला और जोरदार विरोध करने से न चूके।

नागरिकता के नाते ऐसा विरोध करना और अपने आत्मबल का परिचय देना उसका कर्त्तव्य है। सम्भव है, इस कर्त्तव्य-पालन में उसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़े, यहाँ तक कि यदि वातावरण बहुत दूषित है, और उच्च अधिकारी यथेष्ट विवेकशील नहीं है तो कर्मचारी को आर्थिक हानि सहने या नौकरी से ही हाथ धोने का भी अवसर आ सकता है। परन्तु कर्त्तव्य-पालन में कठिनाइयों का आना तो स्वाभाविक ही है, और जब तक नागरिक कुछ त्याग करने और कष्ट सहने के लिए तैयार न हों, दूसरे नागरिकों की उन्नति का मार्ग कैसे प्रशस्त हो सकता है! निदान, सरकारी नौकरी करते हुए भी स्वाभिमान की रक्षा की जा सकती है, और की जानी चाहिए। तुम स्वाभिमान की रक्षा करनेवाले, अच्छे आदर्श और सिद्धान्त रखनेवाले नागरिक बनो; और अपना और समाज का भला करो।

———

*

[१५]

सैनिक बननेवाले से

—o—

तुम्हारी पढ़ाई अब जल्दी पूरी होनेवाली है, और तुम यह सोच रहे हो कि इसके बाद क्या काम किया जाय। तुम्हारी कुछ-कुछ रुचि सैनिक बनने की है। तुम यह विचार करना चाहते हो कि सैनिक का कार्य कैसा है, और सैनिक जीवन का आदर्श क्या हो!

सैनिक यह गर्व किया करता है कि हमारी ही बदौलत लोगों के जान-माल की रक्षा होती है, और संसार में शान्ति रहती है। पर इसमें कोई सार नहीं। समाज में शुरू से ही सैनिकों का क्रम चला आ रहा है; कभी कम, कभी ज्यादा; कभी एक रूप में, और कभी दूसरे में। प्रत्येक समाज के संगठन में सैनिकों या क्षत्रियों को एक विशेष स्थान दिया गया। परन्तु क्या सेना का उद्देश्य कभी सफल हुआ?

पहले, देशों को भीतरी रक्षा की बात लें। सब जानते हैं कि प्रत्येक देश के भिन्न-भिन्न भागों में समय-समय पर चोरी लूट-मार आदि होती है; डाके या हत्याएँ भी होती हैं। सेना रहने से इनका निवारण नहीं होता! प्राय: वह तो मौके पर भेजी ही उस समय जाती है जब कोई दुर्घटना अथवा उपद्रव हो चुकता है। यह ठीक है कि प्राचीन काल में, भारतवर्ष में, और कुछ और भी देशों में, ऐसा समय रहा है, जब आदमी अपने मकानों के दरवाजे खुले छोड़कर चाहे जहाँ बेखटके घूमते फिरते थे; उन्हें अपना माल चोरी जाने की कुछ भी शंका न होती थी; दरवाजों में साँकल या ताला लगाने की चाल ही न थी। परन्तु इसका श्रेय सेना को नहीं दिया जा सकता। इसका मुख्य कारण यह था कि लोगों की नैतिक या धार्मिक भावना

ऊँची थी; उन्हें एक-दूसरे में विश्वास था, उनके लिए चोरी करना आदि अस्वाभाविक था। मतलब यह कि आम तौर से सेना के सहारे शान्ति नहीं रहती।

तुम कहोगे कि सेनाएँ देशों की बाहरी हमलों से रक्षा करती हैं। अच्छा, क्या उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति रही है! संसार का सब से पुराना साहित्य वेद माने जाते हैं। उनमें भी युद्ध का वर्णन है। पीछे भारतवर्ष के रामायण-काल, महाभारत-काल या पौराणिक काल—किसी भी समय का इतिहास लीजिए, कोई भी साहित्य युद्ध की कथा से मुक्त नहीं है। दूसरे देशों के इतिहास की भी यही बात है। आज कल जो देश अपनी सभ्यता और उन्नति का अभिमान करते हैं, वे भी हमलों से छुटकारा नहीं पा सके हैं। इस तरह युद्ध मनुष्य जाति के साथ शुरू से अब तक चिपटा रहा है। देश-काल के अनुसार सैनिक व्यवस्था का जितना अधिक विकास हुआ है, उतना ही जन-धन अधिक नष्ट हुआ है। उतनी ही युद्धों की भयंकरता और विस्तार बढ़ा है। ऐसी दशा में कौन यह कह सकता है कि सैनिकों से मनुष्य जाति का कुछ बचाव हुआ है!

यह तो तुम जानते ही हो कि सैनिकों का व्यवहार विदेशों की ही नहीं, अनेक बार अपने देश की भी नागरिक जनता से कैसा बुरा होता है। जब कभी छुट्टी या अवकाश के दिन सैनिक अपना मनोविनोद करने के लिए शहर के बाजारों में आ जाते हैं तो मानो एक आफत आ जाती है। बस्ती में आकर सैनिक अपने आपको सब प्रकार के अनुशासन या नियम-बंधन से मुक्त समझते हैं। हलवाई या खोम्चे वाले से सामान लेकर उसके दाम न चुकाना, यदि कोई उनसे दाम माँगे तो उसे धमकाना और मारना-पीटना, किसी ताँगे आदि में सवार होकर घन्टों जहाँ-तहाँ घूमना और किराया न चुका कर ताँगे-वाले को परेशान करना और राह चलते आदमियों या औरतों से

छेड़छाड़ करना आदि सैनिकों के लिए साधारण बातें हैं। जब कभी सैनिक रेल में सफर करते हैं, तो दूसरे यात्रियों को तरह-तरह का कष्ट देना, और स्टेशनों के प्लेटफार्म पर वहाँ के आदमियों को दिक करना, यहाँ तक कि रेल-कर्मचारियों की भी अवहेलना करना आए-दिन की घटनाएँ हैं। जब सैनिक कूच करते हैं, और किसी गाँव के पास पड़ाव डालते हैं तो गाँववालों पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ता है। कोई अपनी जान-माल, या बहू-बेटियों की इज्जत सुरक्षित नहीं समझता। ऐसा दुर्व्यवहार करनेवाले सैनिकों को 'देश-रक्षक' नहीं कहा जा सकता।

हमने सैनिकों के व्यवहार की जो बात ऊपर कही है, वह थोड़े दिन ही अनुभव में आती है। पर उस समय तो जनता पर लम्बा कष्ट आ पड़ता है, जब युद्ध समाप्त हो जाता है और सिपाही अपने-अपने घर लौट आते हैं। ज्यादातर सिपाही गाँवों के होते हैं। जिस गाँव में विजयी सिपाही काफी संख्या में आ जाते हैं, उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। बात यह है कि ये सिपाही हिंसा की पूरी शिक्षा पाए हुए होते हैं, और बहुत दिनों तक इन्हें मरने-मारने का ही काम रहता है। इसलिए लड़ाई के मैदान से चले आने पर भी जल्दी ही इनका स्वभाव नहीं बदल सकता। इनके व्यवहार में पद-पद पर क्रोध, हिन्सा और द्वेष-भाव का परिचय मिलता है। और, जब इन्हें शिक्षा द्वारा क्रूर और हिन्सक बनाया गया है तो इनसे और आशा ही क्या की जाय!

यह बात विजयी सेना-नायकों और सैनिक अधिकारियों के बारे में और भी ज्यादा लागू होती है। जनता इन्हे अपना रक्षक समझती है, इनका स्वागत करती है, और खुशी मनाती है। लेकिन जल्दी ही उसे पता लग जाता है कि इनमें लोकतन्त्र की भावना नहीं है, ये स्वेच्छाचारी शासक का सा व्यवहार करना जानते हैं। जनता इन 'रक्षकों' से से अपनी रक्षा कैसे करे!

प्राचीन काल में अनेक स्थानों में ऐसी रीति थी कि जब दो दलों

में झगड़ा होता था, तो वे दल अपना एक-एक आदमी चुन देते थे। इन दो आदमियों के द्वन्द्व-युद्ध से दोनों दलों की हार-जीत का निर्णय हो जाता था। इस प्रकार युद्ध केवल दो आदमियों तक परिमित रहता था। इतिहास में हमने एक दूसरा दृश्य भी देखा—दो दलों के झगड़े का निपटारा उनकी सेनाओं ने आपस में लड़कर कर लिया। किसान आदि अन्य नागरिक जनता युद्ध में नहीं फँसती थी; वह अपना रोजमर्रा का काम बेरोक टोक करती रहती थी। पर अब तो एक देश के आदमी विरोधी देश की सेना को ही नहीं, वहाँ की सभी जनता से दुश्मनी रखते हैं। लेकिन जरा सोचने की बात है कि अगर किसी राज्य के डिक्टेटर या बादशाह ने किसी तरह हमारे विरुद्ध सैनिक संगठन कर लिया है तो क्या हमारा यह समझना ठीक होगा कि उस राज्य के सब नागरिक हमारे शत्रु हैं? क्या वहाँ के बूढ़े, अनाथ, स्त्रियाँ और बाल बच्चे हमारी दया और सहानुभूति के अधिकारी नहीं हैं! अगर हम वहाँ की नागरिक (सिविल) जनता पर बमबाजी करेंगे और उनके अस्पतालों, स्कूलों, अजायबघरों, और विनोद-स्थानों आदि को नष्ट करेंगे तो हमारी वह करतूत कहाँ तक मनुष्योचित होगी!

हमें यह भी सोचना है कि जो सैनिक आज हमारे विरुद्ध अस्त्र लेकर खड़ा है, क्या वह वास्तव में हमारा शत्रु है। सम्भव है, वह कुछ रुपयों के लोभ से ही सेना में भरती हो गया हो, या धूर्त सत्ताधारियों के बहकाए में आकर हिंसक कार्य करने पर उतारू हुआ हो यह सम्भव है कि यदि उससे शान्तिपूर्वक विचार-विनिमय करने का कोई मार्ग निकल सके तो उसका हृदय-परिवर्तन हो जाय, वह हमारा परम मित्र और शुभचिन्तक बन जाय। परन्तु जब हम भी जोश में आ जाते हैं, उसे मृत्यु के घाट उतार देते हैं, और उसके निर्दोष बालकों को अनाथ और दुखी बना देते हैं तो उसके भाई-बन्धुओं की द्वेषाग्नि प्रज्वलित होती है, और वे हमसे बदला लेने की ठान लेते हैं। यह

थोड़े-बहुत समय में वह हमारा मित्र और प्रेमी बन जाय। असल में, संसार में सभी आदमी आपस में भाई-भाई हैं। जाति-बिरादरी, रङ्ग या वर्ण, मजहब या धर्म-राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य आदि की दीवारें कृत्रिम या बनावटी हैं। इनसे हमें धोखा न होना चाहिए। हम विश्व-राज्य या विश्व-संघ का निर्माण करनेवाले हैं, हम विश्व-नागरिक बनेंगे, और विश्व-राज्य के आत्मबल वाले वीर सत्याग्रही सैनिक होंगे। हम दूसरों को मार कर अपनी वीरता का बखान करनेवाले न हों, वरन् स्वयं कष्ट सहते हुए, और आवश्यकता हो तो मर कर ऐसा इतिहास छोड़नेवाले हों, जो शत्रु को चकित करे, और उसे हमारा मित्र और बन्धु बनने के लिए प्रेरित करे।

हे सैनिक ! तू शक्ति का भक्त है, तेरी शक्ति की प्यास अनन्त है। तू जितनी शक्ति प्राप्त करता है, उतनी ही तेरी प्यास बढ़ती जाती है। 'कुछ शक्ति और चाहिए, कुछ और भी चाहिए' यह तेरी हरदम पुकार है। तेरी भावना में मौलिक दोष है। तू आसुरी शक्ति के पीछे पड़ा है। तेरे आदर्श नायक चंगेज, तैमूर, सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन और हिटलर हैं। इनकी विजय कितने दिन की ! सब क्षणिक है। तू स्थायी शक्ति के लिए क्यों नहीं आगे बढ़ता; प्रेम और सेवा को अपने जीवन का मूल मंत्र क्यों नहीं बनाता; गौतम बुद्ध और हजरत ईसा का अनुयायी बनने का विचार क्यों नहीं करता ! उन्होंने भौतिक विजय का स्वप्न नहीं देखा था, अपने-पराए का भेदभाव हटाकर उन्होंने विश्व-परिवार की हित-कामना की थी। उन्होंने जनता के हृदय पर विजय प्राप्त की थी। वह विजय आज हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी अपना चमत्कार दिखा रही है, और निरन्तर दिखाती रहेगी। तू भी ऐसा ही वीर सैनिक बन।

———

[१६]

अर्थशास्त्री बननेवाले से

तुमने विश्वविद्यालय में तथा निजी तौर से अर्थशास्त्र का खूब अध्ययन किया है। तुम प्रायः प्रत्येक बात को आर्थिक दृष्टिकोण से देखनेवाले हो गए हो। और, अब तुम समाज की विविध आर्थिक समस्याओं पर विचार करने में ही अपना समय लगाना—अर्थशास्त्री बनना—चाहते हो। इस अवसर पर तुमसे इस विषय में कुछ बातें करना अनुचित न होगा।

तुम्हारी नजर सदा धन पर रहती है। कोई काम करने योग्य है या नहीं, इसकी कसौटी तुम्हारे विचार से यही है कि उस कार्य से धन कितना मिलता है। जिस कार्य से जितना अधिक धन प्राप्त होता है, तुम उसकी उपयोगिता उतनी ही अधिक मानते हो। यद्यपि कहने को तुम कहा करते हो कि धन मनुष्य या समाज के लिए खर्च करने को ही होता है, पर व्यवहार में प्रायः यह बात भुला देते हो तुम्हारा मुख्य लक्ष्य धन रहता है, व्यक्ति या समाज का हित नहीं। क्या तुम आतशबाजी. नशे या विलासिता की वस्तु बनाने के श्रम को उत्पादक श्रम नहीं कहते, यद्यपि सब जानते हैं कि इससे समाज को भयंकर क्षति पहुँचती है। इसके विपरीत, यदि कोई आदमी केवल अपने मनोरञ्जन या मानसिक शान्ति के लिए अच्छे साहित्य का अवलोकन करता है, या निस्वार्थ भाव से दूसरों को सुनाता है तो तुम उसके कार्य को अनुत्पादक कहोगे। तुम्हारी दृष्टि में निष्काम कार्य का कुछ महत्व नहीं, कोई कार्य स्वार्थ-साधक होने पर ही उत्पादक ठहराया जाता है। अगर

हिंसा-प्रतिहिंसा का सिलसिला एक पीढ़ी तक ही चले, ऐसा कोई नियम नहीं है, यह तो कई-कई पीढ़ियों तक चल सकता है। हिन्सा से शत्रु दब सकता, या मर भी सकता है, परन्तु शत्रुता की भावना का अन्त नहीं होता, उसकी विष-बेल बढ़ती रहती है। एक महायुद्ध का फल दूसरा महायुद्ध, दूसरे का नतीजा तीसरा। हर एक महायुद्ध पिछले महायुद्ध से अधिक भयंकर और नाशकारी होता है। भावी सैनिकों को इस विषय में गहरा विचार करना चाहिए।

अकसर हम कह दिया करते हैं कि महायुद्ध का कारण हिटलर, तोजो या अमुक आदमी है, इसलिए उस आदमी को मार डालना चाहिए। हम यह नहीं सोचते कि उस आदमी को ऐसा आदमी किसने बनाया। असल में वह तो अपने समय की राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति का फल होता है। संसार में सुख-शान्ति की व्यवस्था चाहने-वालों का कर्तव्य है कि वे किसी खास आदमी को मारने का विचार न कर नाजीवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदि को नष्ट करने के लिए कमर कस लें। जिस आदमी को हम युद्ध का कारण समझते हैं, वह एक प्रकार का रोगी होता है, और उस तरह के छोटे-बड़े रोगी और भी बहुत से होते हैं। हम एक दो प्रधान रोगियों को मार कर संसार भर के निरोग बनाने का स्वप्न देखा करते हैं। जरूरत है कि इस रोग के कीटाणुओं को नष्ट किया जाय, चाहे वे हमारे शत्रु के शरीर के हों, या हमारे मित्र के ही शरीर के हों।

मनुष्य का जीवन उसकी महान यात्रा का वह संधि-स्थान है, जिसके एक ओर पशु जीवन है और दूसरी ओर देव योनि। आदमी का बहुत-कुछ विकास हो चुकने पर भी उसमें प्रायः कुछ पशुत्व शेष है; उस ओर का थोड़ा सा सहारा पाने पर उसके मस्तिष्क में शैतान काम करने लगता है। समाज का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दैवी गुणों का विकास हो। परन्तु वर्तमान सैनिक व्यवस्था तो आदमी के पशुत्व

को ही बढ़ाती है। अब तक के इस अनुभव को ध्यान में रखते हुए मानव समाज की सैनिक पद्धति बदल देनी होगी। योद्धाओं की जगह सत्याग्रही वीरों से काम लेना होगा। तोप, बदूक और हवाई जहाजों की जगह अहिन्सा और प्रेम के साधनों का उपयोग किया जाना आवश्यक है। प्रेम और सत्याग्रह का अस्त्र धीरे-धीरे काम करता है, लेकिन उसकी विजय निश्चित है, उसकी हार का तो सवाल ही नहीं होता। सत्यग्रही का उद्देश्य शत्रु को मार डालना नहीं होता, वह तो उसका हृदय परिवर्तन करके, अन्दर से शत्रुता निकाल देने की कोशिश करता है; और इस कोशिश में अपना जीवन अर्पण करने के लिए तैयार रहता है। उसके इस काम से दोनों का उत्थान होता है; पतन किसी का नहीं होता।

सत्याग्रही दल या अहिन्सक सेना की तैयारी कैसे होगी? क्या यह भी कभी सम्भव है? हमने हिन्सक सेनाओं की व्यवस्था करते-करते अब तक कितने युग व्यतीत कर डाले! सम्पत्ति और साधनों का भी कुछ हिसाब नहीं है। वह प्रयोग नितान्त असफल रहा; फिर भी सत्याग्रही दलों के आयोजन की बात हमारे मन में कुछ जमती सी नहीं। हम उसे अव्यावहारिक समझ बैठे हैं। जैसा कि महात्मा गाँधी ने लिखा है, 'अगर हिन्सा की काली कला में, जो पशुओं का नियम है, लाखों को दक्ष किया जा सकता है तो अहिन्सा की सफेद कला में, जो कि धर्म संस्कार वाले मनुष्य का नियम है, उन्हें दक्ष करने की उससे भी अधिक सम्भावना है।'

अस्तु, सैनिक बनने के अभिलाषी नागरिकों को चाहिए कि वे अपने शारीरिक या भौतिक बल पर गर्व करना छोड़ दें, और आत्मबल, अहिन्सा, और प्रेम की शक्ति से काम लेने की कोशिश करें। जो आदमी आज किसी भ्रम या लोभ वश संयोग से हमारा विरोधी बना हुआ है, उसके साथ जरा समझदारी से व्यवहार करें; आश्चर्य नहीं;

सब आदमी ऐसा ही 'उत्पादक' कार्य किया करें तो आदमी का जीवन कैसा नीरस और अनुपयोगी हो जाय; वह भले आदमियों के योग्य ही न रहे।

अर्थशास्त्री के विचार के उत्पादन या पैदावार का लक्ष्य मुनाफा है। इसलिए अर्थशास्त्र में मशीनों का खूब गुण-गान किया जाता है, उनके दोषों पर जोर नहीं दिया जाता। पाठकों के मन पर यह प्रभाव डाला जाता है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति और मशीनें बहुत लाभकारी हैं। इनका ज्यादा से ज्यादा उपयोग किया जाना चाहिए। अगर सौ आदमियों का काम दस आदमियों के कराने से नब्बे आदमियों का वेतन बच सके, तो क्यों न मशीन से काम लिया जाय। इस प्रकार छोटी दस्तकारियों और घरू उद्योग-धन्धों का ह्रास करके, और बड़े पैमाने की उत्पत्ति का प्रचार करके तुम पहले तो बेकारी का रोग बढ़ाने में सहायक होते हो, और पीछे इसे दूर करने के लिए कुछ मरहम-पट्टी की योजना करते हो। तुम उस कार्यपद्धति का ही विरोध क्यों नहीं करते, जो इस रोग को जन्म देती है, और बढ़ाती है!

एक शुष्क वैज्ञानिक की भाँति तुम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हो कि पदार्थों का मूल्य माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निर्धारित होता है। पूर्ति अधिक या माँग कम होने पर कीमत कम हो जाती है, और पूर्ति कम या माँग अधिक होने पर कीमत बढ़ जाती है। किसी वस्तु की कीमत वही होती है, जिस पर जितनी उसकी माँग हो, उतनी ही, उस समय को पूर्ति भी हो। यही नियम तुम मजदूरी के सम्बन्ध में लगाते हो। तुम्हारी दृष्टि से मजदूरी एक क्रय-विक्रय का पदार्थ है, तुम इसे अपने अनेक बन्धुओं के जीवन-मरण के प्रश्न के रूप में नहीं देखते। मजदूर अपना भली-भाँति निर्वाह करें, और सम्मान-पूर्ण जीवन व्यतीत करें, इसके लिए उन्हें कितना पारिश्रमिक मिले—यह प्रश्न तुम नीतिशास्त्रियों के लिए छोड़ देते हो। अगर कोई गृहस्थ

सङ्कट आने पर अपना माल सस्ते दामों लुटाने को मजबूर हो तो यह जानकर कि उस माल की मांग करनेवाले खरीददार कम हैं, तुम उसे खरीदने को कैसे उत्सुक रहते हो! अगर किसी के घर में आग लग जाने से उसका समान कुछ बिगड़ जाय और वह नाममात्र के मूल्य पर बिकता हो तो तुम उसे लेने से कब चूकनेवाले हो! और, इस बात की तो तुम्हें हर समय खोज ही रहती है कि कहीं अनाथों, विधवाओं या अन्य दुर्दशाग्रस्त आदमियों की जायदाद बिके और साधारण सा खर्च करने से ही वह तुम्हारे अधिकार में आ जाय। कब दूसरों पर सङ्कट आवे, और तुम्हारी बन आवे। क्या तुम्हें मांग और पूर्ति के नियम के भयंकर दुरुपयोग की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए?

तुम अर्थशास्त्र में विनिमय के माध्यम के लिए आवश्यक गुणों का विस्तार-पूर्वक विचार करते हो और बताते हो कि मनुष्य ने अनेक प्रयोग करने के बाद मुद्रा या सिक्के को सर्वश्रेष्ठ माध्यम ठहराया है। तुम इसे विकास की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना मानते हो। परन्तु तनिक यह भी तो विचार करो कि दूर-दूर के भागों से विनिमय करने में मुद्रा को माध्यम बनाने से सुविधा तो हुई है, पर उसके साथ ही गाँवों का स्वावलम्बन भी तो नष्ट हो गया। आज हम रोजमर्रा काम आनेवाली वस्तुओं के लिए दूर-दूर देशों के आश्रित हैं। कितना आर्थिक परावलम्बन है—इसकी ठीक कल्पना युद्ध के समय ही होती है, जब विदेशी व्यापार करना बहुत जोखम का काम होता है, और वह प्रायः बन्द ही हो जाता है। फिर मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम ही न रह कर संग्रह की वस्तु भी बन गई है। अब प्रत्येक आदमी अधिक-से-अधिक द्रव्य संग्रह करने की धुन में है, वह जैसे-बने धनवान या अमीर बनना चाहता है, उसके पास ही उसके भाई-बन्धु भूखे नंगे रहें तो उसकी उसे चिन्ता नहीं। अन्न आदि का संग्रह प्रायः इतने बड़े पैमाने पर होता ही नहीं,

और जिनके पास होता है, वे दूसरों को आवश्यकता होने पर, देने में इतनी कृपणता नहीं करते। अब मुद्रा की बदोलत सर्वत्र लोभ और लालच का साम्राज्य है। स्वार्थी व्यक्तियों, संस्थाओं और राज्यों ने मुद्रा (अथवा सोने चाँदी) के रूप में दूसरों के शोषण का एक विकराल अस्त्र पा लिया है। विनिमय के माध्यम का यह अच्छा 'विकास' हुआ, अब गाँवों के परावलम्बन के साथ-साथ हम धन के असमान वितरण से पैदा होनेवाला महान सङ्कट भुगत रहे हैं!

तुमने श्री० किशोरलाल जी मशरूवाला की 'सोने की माया' नाम की छोटी सी पुस्तक देखी होगी, उसमें इस सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन है कि जिस धन को अधिकांश प्रजा अपने श्रम से उत्पन्न कर सकती है, वही उस देश में आर्थिक व्यवहार का साधन या सिक्का बनना चाहिए। उसके अतिरिक्त, दूसरी मूल्यवान वस्तुओं के रहते हुए भी उनके द्वारा लेन-देन का व्यवहार जनता के लिए लाजमी नहीं होना चाहिए। म० गाँधी ने लिखा है, "हम बड़े पैमाने पर व्यापार नहीं चाहते; हम देहात की स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन चाहते हैं। देहातों में पारस्परिक व्यवहार के लिए कोई ऐसी देहाती चीज होनी चाहिए, जिसे हर कोई बना सकता है, जिसका आसानी से संग्रह हो सकता है, और जिसका दाम हर रोज बदलता नहीं है। ऐसी वस्तु सूत है। अगर सूत-माप हम देहातों में दाखिल कर सकें तो देहातों की बहुत उन्नति कर सकेंगे और शीघ्रता से उन्हें स्वावलम्बी बना सकेंगे।"

इन बातों को गए-गुजरे जमाने की बात कहना या इन्हें मजाक में उड़ा देना ठीक नहीं है। तुम्हें इन पर गम्भीरता से सोचना चाहिए। तुम्हारा कर्तव्य तो यह है कि इनके मूल तत्व को व्यावहारिक बनाने के लिए उचित उपायों की खोज करो और उनका भरसक प्रचार करो।

अर्थशास्त्री जी! तुम्हारी नीति का मूल सूत्र यह है कि कम-से-कम खर्च में अधिक-से-अधिक माल तैयार करके उसे खूब मुनाफे से बेचा

जाय। इस नीति का फल यह है कि कोई माल पैदा करते समय इस बात का विचार नहीं किया जाता कि जनता को वास्तव में उसकी आवश्यकता है या नहीं, उससे लोकहित साधन होगा या नहीं। मुख्य लक्ष्य यह रखा जाता है कि जो माल तैयार हो, वह बिक जाय। यही तो कारण है कि अनेक बार जीवन-रक्षक पदार्थों की उत्पत्ति न कर, ऐसे पदार्थ तैयार करने में शक्ति लगाई जाती है, जिनकी माँग केवल विलासिता या शौकीनी आदि के लिए होती है। अगर यह माल देश में काफी न खपता हो तो इसके लिए विदेशों में बाजार तलाश किए जाते हैं। अगर दूसरे देशवाले इसे खरीदने से इन्कार करते हैं तो उन पर यह छल, बल, कौशल से लादा जाता है; यहाँ तक कि इसके लिए उनसे भयंकर युद्ध ठानने में भी संकोच नहीं किया जाता। कोई उन्नत और सबल राष्ट्र स्वयं चाहे जितने समय तक व्यापार-संरक्षण ('प्रोटेक्शन') नीति से काम लेता रहा हो, और चाहे भविष्य में भी इस नीति को अपनाए रहने के लिए तैयार हो, दूसरे देशों से मुक्तद्वार व्यापार का ही व्यवहार चाहता है; और, अपने राज्य का रुख देखकर, अर्थशास्त्री वैसा ही उपदेश पाठकों को देता है। क्या शास्त्रवेत्ता और सिद्धान्त-प्रेमी कहे जानेवाले अर्थशास्त्री से यह आशा न की जाय कि वह स्वतन्त्रता-पूर्वक सत्य का प्रचार करे ?

अर्थशास्त्री जी ! जब कि तुम अर्थशास्त्र सम्बन्धी अन्य अनेक जटिल विषयों पर खूब तर्क वितर्क करते हो, समाजवाद की खुलकर चर्चा क्यों नहीं करते; अपने ग्रन्थों में इसके सम्बन्ध में क्यों नहीं विचार करते ? क्या तुम नहीं जानते कि विज्ञान के सहारे, उन्नत देशों में उत्पत्ति का प्रश्न बहुत-कुछ हल हो गया, और होता जा रहा है। अब आर्थिक जगत की मुख्य समस्या वितरण है। धन के असमान वितरण के कारण धनी देशों में भी अधिकांश जनता बहुत कष्टमय जीवन बिता रही है। पूंजीपतियों और मजदूरों का नित्य संघर्ष

बना रहता है। हड़तालों का रूप अधिकाधिक व्यापक होता जाता है। अमरीका और इंगलैण्ड आदि देशों में पूँजीपति उत्पादक खाने-पीने की वस्तुओं को कीमत चढ़ाए रखने के लिए बहुत सी सामग्री नदियों या समुद्र में बहाते, या आग में जलाते रहते हैं, जब कि उनकी आँखों के सामने अनेक आदमी उन पदार्थों के लिए तरसते होते हैं। ऐसी स्थिति में क्या तुम्हारा यह कर्त्तव्य नहीं है कि जनता के हितार्थ धन-वितरण के प्रश्न पर अच्छी तरह प्रकाश डालो, और सर्वसाधारण को बतलाओ कि समाजवाद का व्यावहारिक स्वरूप भिन्न-भिन्न देशों में कैसा हो, हम दूसरे देशों के अनुभव से कहाँ तक और कैसे लाभ उठा सकते हैं।

अर्थशास्त्री जी! यह ठीक है कि मनुष्य का उद्देश्य सुख-शान्ति प्राप्त करना है, और इसके लिए, अपने निर्वाह के वास्ते हमें परिश्रम-पूर्वक धन कमाना चाहिए। परन्तु हर बात में मुनाफे पर नज़र रखकर काम करना ठीक नहीं।

सुख-शान्ति उसे ही प्राप्त होती है, जो दूसरों की सेवा और परोपकार का यथेष्ट ध्यान रखता है; जिसका विचार-क्षेत्र विस्तृत है, जो अपने ग्राम, नगर, या राज्य में ही नहीं, विश्व भर में अपनेपन का अनुभव करता है। इसलिए हमारी विविध क्रियाएँ या श्रम केवल 'आर्थिक' न होकर लोक-हित-मूलक होनी चाहिएँ। यही सच्चा अर्थ-शास्त्र है। अर्थशास्त्र के नाम से जो कुछ आज दिन पढ़ा-पढ़ाया जाता है, वह तो स्वार्थ-शास्त्र है; नहीं, नहीं, उसे शास्त्र का नाम देना ही भूल है। उससे सच्चे स्वार्थ का ज्ञान नहीं होता। हमारा सच्चा स्वार्थ समाज के स्वार्थ में ही है, उससे पृथक् नहीं। आह! संसार में सच्चे अर्थशास्त्र की रचना और प्रचार कब होगा? अर्थशास्त्री जी! क्या तुम इस पवित्र कार्य में कुछ योग दोगे?

————

[१७]

वैज्ञानिक बननेवाले से

तुमने विज्ञान की शिक्षा समाप्त कर ली है और अब तुम अपनी इस शिक्षा का उपयोग करने, कुछ आविष्कार करने, और वैज्ञानिक का जीवन बिताने की सोच रहे हो। ऐसे अवसर पर तुम मेरा परामर्श और शुभ कामना चाहते हो।

विज्ञान के अनेक भेद हैं। किसी भी विषय के तर्कसङ्गत और क्रम-बद्ध ज्ञान को विज्ञान कहा जा सकता है। तो भी इसके मुख्य तीन भेद हो सकते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में शरीर, मन और आत्मा हैं, उसी प्रकार विज्ञान भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक होता है। मनुष्य की यथेष्ट उन्नति तभी होती है, जब वह अपने शरीर, मन और आत्मा में से किसी एक या दो के ही विकास में ही न लग कर तीनों की उन्नति का समुचित ध्यान रखे। ऊपर बताए हुए तीन प्रकार के विज्ञानों में से आजकल भौतिक विज्ञान की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है, दूसरे विज्ञानों की उपेक्षा की जाती है। इसलिए समाज को जितना चाहिए, उतना लाभ नहीं पहुँचता; बल्कि कुछ दशाओं में तो हानि ही होती है। अगर दूसरे विज्ञानो का भी यथेष्ट अध्ययन और उपयोग किया जाय तो भौतिक विज्ञान से संसार का कितना अधिक हित साधन हो।

भौतिक विज्ञान ने कठिन कार्यों को आसान कर दिया है, मनुष्यों को खाने पहनने की बहुत सी चीजें देदी हैं, यात्रा की बाधाएँ दूर करके पृथ्वी के विविध भागों को एक-दूसरे के निकट कर दिया है, अनेक औषधियों के आविष्कार ने लोगों को कितनी ही भयंकर बीमारियों से

मुक्त कर दिया है, मनुष्य को जल और स्थल का ही नहीं, आकाश का भी आनन्दपूर्वक उपयोग करने का अवसर प्रदान किया है, उसे प्रकृति का बहुत-कुछ स्वामी बना दिया है। उसके भूत-प्रेत आदि के काल्पनिक भय और विविध अंधविश्वासों को दूर कर उसे विचारशील और बुद्धिमान बना दिया है। वैज्ञानिक कोई बात आँख मीच कर नहीं मानता। वह हर बात को तर्क की कसौटी पर कसता है। किसी कार्य को वैज्ञानिक पद्धति से करने का अर्थ ही अब उसे अच्छी रीति से, विवेकपूर्ण ढग से, करने का हो गया है। इस प्रकार लिखने-पढ़ने का काम हो या खाना खाने का, खेती करने का हो या रहनसहन का, नगर-निर्माण का हो या अन्य कोई भी कार्य हो, सब को वैज्ञानिक रीति से करने की माँग हो रही है। हर एक चीज़ का अपना-अपना विज्ञान है। संसार विज्ञानमय से हो रहा है।

हाँ, विज्ञान से होनेवाले लाभ समाज के उन थोड़े-से आदमियों को ही मिलते हैं, जो धनवान या सत्ताधारी हैं। अधिकांश जनता विज्ञान के साधनों और यंत्रों से विशेष लाभ नहीं उठा सकती। कितने ही आदमी गरीबी के कारण यात्रा के रेल और मोटर का भी उपयोग नही कर सकते, हवाई जहाज की बात तो बहुत दूर की है। इसी तरह समाचार भेजने के लिए तार और टेलीफोन का, इलाज के लिए एक्स-रे जैसे यंत्रों और क़ीमती दवाइयों का, इस्तेमाल करना बहुत थोड़े ही आदमियों के वश की बात है। इस संसार में दो समूह या वर्ग हैं—पहले समूह में इनेगिने पूँजीपति हैं; और, दूसरे में बाकी सारा ही समाज है। इन समूहों के बीच में बहुत चौड़ी खाई है, और क्योंकि एक समूह विज्ञान का बहुत अधिक उपयोग कर सकता है, इसलिए यह खाई और भी ज्यादा चौड़ी हो गई है। लेकिन इसमें विज्ञान का दोष नहीं; यह तो हमारी सामाजिक व्यवस्था का दोष है।

इस तरह यह ठीक है कि विज्ञान के सहारे कुछ राज्य युद्ध और

विनाश की तैयारी करते रहते हैं, इससे संसार भर में अशान्ति है, हरदम सिर पर संकट सवार रहता है। लेकिन इसमें भी विज्ञान का दोष नहीं। युद्ध का असली कारण यह है कि राज्यों के संचालक या सूत्रधार विज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। ज़रूरत है कि इसके दुरुपयोग से बचा जाय। आजकल कितने ही वैज्ञानिक, सरकारों या पूंजीपतियों की अधीनता में, या उनसे आर्थिक सहायता लेकर ऐसे कामों में लगे हुए हैं, जिनसे जनता के लिए जीवन-रक्षक या उपयोगी चीजें तैयार नहीं होतीं, अनावश्यक विलासिता, शौकीनी या संहार का सामान बनता है। कृषि-विज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि की उपेक्षा हो रही है। जब तक वैज्ञनिक अपनी बुद्धि का स्वतन्त्र और विवेकपूर्ण उपोग न करेंगे, यह होने वाला ठहरा। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारी योग्यता और शक्ति का लोक-हित के लिए उपयोग हो तो तुम सत्ताधारियों के हाथ के औजार न बनो। ऐसी संस्था को खोज करो, और यदि कोई संस्था न हो तो उसके संगठन को व्यवस्था करो, जो वैज्ञानिकों की प्रतिभा का, उनके द्वारा किए जानेवाले आविष्कारों का, उपयोग लोकहितकारी कार्यों के लिए करे! अवश्य ही इस मार्ग में कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा; परन्तु उनसे घबराने की कोई बात नहीं; नागरिक कर्तव्य पालन करने के लिए भरसक कष्ट उठाना ही चाहिए।

जबकि तुम नवीन क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हो, मेरी तुम्हें पहली सूचना यह है कि निश्चय कर लो कि तुम अपनी शक्ति का दुरुपयोग न होने दोगे। तुम्हारे द्वारा शरीर-विज्ञान, कृषि-विज्ञान आदि की उन्नति में सहारा मिलेगा, जिनकी आजकल प्रायः उपेक्षा हो रही है। तुम विलासिता या शौकीनी के सामान या संहारकारी रण-सामग्री के निर्माण में भागीदार न होगे।

यही नहीं, तुम्हारी कोशिशों से मानव समाज का युद्ध-संकट घटने में भी सहायता मिलनी चाहिए। तुम जानते हो कि जब आदमियों के

रहने की जगह या खाने-पीने की चीजें जरूरत से कम होती है तो अकसर उनसे छीना-झपटी और लड़ाई-झगड़ा होता है। उनके आपसी झगड़े मिटाने का सीधा उपाय यह है कि उनकी ज़रूरतें पूरी की जायँ। यही बात राज्यों की है! जब कोई राज्य देखता है कि उसके सब आदमियों के लिए रहने की जगह कम है, या उनके गुजारे के लिए भोजन-वस्त्र की कमी है, या कारखानों, मोटर और रेल आदि के लिए लोहा, कोयला, तेल, आदि की कमी है तो वह राज्य दूसरे देशों को अपने अधीन करना चाहता है। इसी में युद्ध का बीज छिपा होता है। जब दो राज्यों में लड़ाई ठनने लगती है, तो कितने ही दूसरे राज्य भी उन दोनों राज्यों में से किसी एक का पक्ष ले लेते हैं; इसका परिणाम होता है महायुद्ध।

इन युद्धों और महायुद्धों को रोकने का उपाय, नागरिकता का क्षेत्र बढ़ाने के अतिरिक्त यह है भिन्न-भिन्न देशों में उनकी आवश्यकता के पदार्थ काफी परिमाण में उत्पन्न करने की विधि निकाली जाय। किसी राज्य को किसी पदार्थ के अभाव का कष्ट न हो—यह कार्य है, वैज्ञानिक के करने का। उसकी आविष्कारक बुद्धि यह सोचे कि भिन्न-भिन्न देशों में जनता के निर्वाह के लिए विविध वस्तुओं की उत्पत्ति का परिमाण किस तरह बढ़ाया जाय, यदि किसी देश में खाद्य पदार्थों की पैदावार बढ़ाने के लिए जल की कमी है, तो वहाँ जल किस तरह, कहाँ से लाया जाय। यदि कोई आवश्यक वस्तु ऐसी है, जो बहुत उद्योग करने पर भी यथेष्ट परिमाण में नहीं उत्पन्न की जा सकती तो उसके स्थान में उसका काम देने योग्य दूसरी कौनसी कृत्रिम वस्तु से समस्या हल हो सकती है। यदि किसी स्थान की जलवायु मनुष्यों के रहने के लिए अनुकूल नहीं है तो वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा उसमें किस प्रकार सुधार किया जा सकता है।

वैज्ञानिक में यह योग्यता है कि वह रेगिस्तान को हरी-भरी भूमि में बदल सकता है। रोग के कीटाणुओं से भरे दलदल को स्वास्थ्यप्रद

स्थान बना सकता है, कंकरीली ऊबड़-खाबड़ जमीन को सुन्दर उपवन बना सकता है, पहाड़ को काट कर उसके इस पार और उस पार के आदमियों का मेलजोल बढ़ा सकता है, समुद्र को दो देशों को जुदा करनेवाला न रहने देकर उनको मिलानेवाला बना सकता है। निदान, वह पृथ्वी को अधिक उपजाऊ, अधिक स्वस्थ अधिक सुन्दर बना सकता है। ज्यों-ज्यों जिस परिमाण में उसका यह महान कार्य पूरा होगा, इस पृथ्वी पर रहनेवालों के भौतिक वस्तुओं सम्बन्धी अभाव कम होंगे, उनका आपसी संघर्ष दूर होने और उनका मेलजोल बढ़ने में सहायता मिलेगी। हे वैज्ञानिक! निष्काम भाव से अपने लक्ष्य और उद्देश्य का ध्यान रख, और तनमन से उसमें लगा रह। निन्दा या स्तुति की परवाह न कर। अन्त में समय तेरे साथ न्याय करेगा, मानव जनता तेरी कृतज्ञ होगी।

पहले कहा गया है कि आदमी केवल भौतिक शरीर नहीं है, उसमें मन और आत्मा भी है। इस लिए किसी वैज्ञानिक को भौतिक विज्ञान सीखकर प्रकृति पर विजय पाने का अभिमान नहीं करना चाहिए। उसे तो अपने मन पर विजय पाना और आत्मा का विकास करना है जब तक यह काम न होगा, जब तक आदमी लोभ स्वार्थ ईर्ष्या द्वेष आदि का शिकार होगा, तब तक भौतिक विज्ञान का दुरुपयोग होता रहेगा; इससे बचने की बहुत ज़रूरत है। वैज्ञानिक! तुम्हें आज दिन अनन्त घोड़ों की शक्ति ('हार्स-पावर') प्राप्त है, पर जब तक तुम्हारा मन और आत्मा ठीक काम नहीं करते, तुम घोड़ा की लगाम पर काबू नहीं रख सकते। ये घोड़े न मालूम तुम्हें कहाँ ले जा पटकेंगे। तुम्हारे लिए ज़रूरी है कि मन और आत्मा के विज्ञान की ओर भी काफी ध्यान दो, और अपनी योग्यता और शक्ति का, समाज के लिए, सदुपयोग करो।

[१८]

कलाकार बननेवाले से

कला में तुम्हारी रुचि है, और तुम इसी में अपना सब समय लगाना चाहते हो। तुम अच्छे कलाकार बनना चाहते हो। कला के बारे में मेरे विचार क्या हैं, यह मैं यहाँ थोड़े से में जाहिर करता हूँ

हमारा जीवन उद्देश्यमय है। हमारे प्रत्येक कार्य का कुछ उद्देश्य होना चाहिए, वह कार्य साहित्य हो, संगीत हो, चित्रकारी या मूर्ति-निर्माण आदि। इसके साथ ही हमें सोचना है कि जो शक्ति या द्रव्य हम किसी कला में व्यय करते हैं, क्या उसका वही सर्वश्रेष्ठ उपयोग है। क्या समाज के लिए उतनी शक्ति या द्रव्य से कोई और अधिक हितकर कार्य नहीं किया जा सकता? पत्थर या धातुओं की मूर्तियों या कागज के चित्रों को बनाने में भगवान की जीवित जागृत सन्तान अर्थात् मनुष्य-समाज की तो उपेक्षा नहीं की जाती?

मिसाल के तौर पर, श्री० विनोबा भावे के इन शब्दों पर विचार कीजिए, जो उन्होंने एक चित्र के सम्बन्ध में अपने एक मित्र को कहे थे:—'इस चित्र का यह गुलाबी रंग सुन्दर है, लेकिन मैं तुमसे दूसरी ही बात कहना चाहता हूँ। इस चित्र के तुमने पचास रुपए दिए। जरा हरिजनों की बस्ती में जाकर देखो। वहाँ तुम फीके चेहरे वाले बच्चे पाओगे। रोज सबेरे वहाँ जाओ। पन्द्रह मिनट चलना पड़ेगा। रोज एक सेर दूध ले जाया करो। फिर एक ही महीने के बाद उन लड़कों के मुँह देखो। उन काले और फीके चेहरों पर गुलाबी रङ्ग आ जायगा। खून की मात्रा बढ़ने से चेहरे पर लाली आ जायगी।

अब तुम्हीं बतलाओ, इस निर्जीव चित्र पर जो गुलाबी रंग है, वह श्रेष्ठ है, या वह जो उन जीवित चित्रों पर दिखाई देगा ? वे बालक भी इस चित्र जैसे सुन्दर दीख पड़ेंगे। मेरे भाई! ये जीवित कला के नमूने मरते जा रहे हैं। तुम इन निर्जीव चित्रों को लेकर कला के उपासक होने की डींग मारते हो, और इस महान दैवी कला को मिट्टी में मिलने देते हो।'

कितने ही राजा और रईस अपनी या अपने परिवार वालों की यादगार में सुन्दर इमारतें बनवाते हैं। इन्हें देख कर आदमी कुछ देर खुश हो जाते हैं, लेकिन जब यह मालूम होता है कि इनके बनाने में जो खर्च हुआ, वह जनता से बड़ी कड़ाई या छल-कपट से वसूल किया गया, और मजदूरों को खाने-पहिनने को भी काफी नहीं दिया गया तो कोई समझदार आदमी आँसू बहाए बिना नहीं रह सकता।

हमने गरीब राजस्थान में करोड़ों रुपए की लागत से बने हुए राजभवन आदि देखे हैं, और उनसे थोड़ी दूर के फासले पर ही देखी हैं निर्धन लोगों की टूटी-फूटी झोपड़ियाँ! हमें कितने ही आदमी, औरतें और बच्चे ऐसे भी मिले हैं, जिनके लिए सर्दी में और गर्मी में, धूप में और बरसात में फर्श का काम देती है धरती माता; और छत की जगह होता है आसमान!

राजा और रईस जनता के लिए साधारण घरों की भी व्यवस्था करने की चिन्ता नहीं करते! क्या कला का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत सुखभोग की इच्छा या अपनी प्रसिद्धि या विज्ञप्ति ही है? दूसरों के हितों की उपेक्षा करनेवाले ऐसे कला-प्रेम को दूर से नमस्कार। काश! कोई राजा या बादशाह लाखों करोड़ों रुपए अपने इस कला-प्रेम में खर्च न कर ऐसी व्यवस्था करनेवाला हो कि राज्य भर के प्रत्येक आदमी के लिए एक ऐसा मकान हो जाय जिसे वह अपना कह सके, चाहे वह मकान साधारण आकार-प्रकार का और कच्चा ही क्यों न हो।

क्या कला-प्रेम चूने, पत्थर या सिमेन्ट के ही काम में ही दिख सकता है ? क्या मिट्टी के बने कच्चे मकान में कला-प्रेम का आभास नहीं मिल सकता। हमने गाँवों में कितने ही कच्चे मकान ऐसे लिपे-पुते और साफ सुन्दर पाए हैं कि देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। धनवानों के मकानों की सफाई और सौंदर्य उनके पैसे के बल पर, नौकरों द्वारा, होती है; और, साधारण लोग स्वयं अपने पुरुषार्थ से सफाई रख कर कला-प्रेमी होने का परिचय देते हैं।

अनेक बार कला में लोकहित की उपेक्षा होती है, उसमें सौंदर्य की प्रधानता होती है। यह धनवानों और सत्तावानों की निजी इच्छा पूरी करने और दिल बहलाने का साधन है। ऐसी कला के काम समाज की विषमता की घोषणा करते हैं। एक ओर मुट्ठी भर आदमी अपने शौक पूरे करने के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाते हैं, मूर्तियाँ (स्टेचू) खड़ी कराते हैं; रंग-बिरंगे चित्र तैयार कराते हैं; और दूसरी ओर उनके हज़ारों लाखों भाइयों को भूख प्यास और सर्दी गर्मी के कारण मौत के घाट उतरना, या पशुओं की सी जिन्दगी बिताना होता है।

कला ने धर्म का आसरा ले रखा है। कितने ही मन्दिरों दीवारों या खम्भों पर ऐसी अश्लील मूर्तियाँ और चित्र बने हुए हैं कि उन्हें देख कर उनके प्रति विद्रोह की भावना जाग उठती है। ऐसी मूर्तियों या चित्रों को कोई भला आदमी अपने घर में अपनी माँ बहिनों या बहू बेटियों के सामने रखना स्वीकार न करेगा। यदि कोई आदमी इन्हें मुफ्त में भी दे जाय तो हम इन्हें तोड़-फोड़ कर ही चैन लेंगे। परन्तु मन्दिरों में इनके खुले-आम दर्शन होते हैं, और कोई चूँ नहीं करता। शायद हमारी आलोचना 'धर्म-विरुद्ध' समझी जाय या 'कला-प्रेमी' हम पर कुपित हो जायँ। कितना रुपया इस कला-प्रेम में नष्ट हो गया है ! क्या कोई हितकर कार्य करने को शेष नहीं रहा था ?

कला की आड़ में, हमारे साहित्य में कितनी जटिलता और गन्दगी

आई है। हमने मान लिया है कि कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि कला के स्वरूप हैं। इनका कोई लोकहितकारी उद्देश्य होने की आवश्यकता नहीं। विशेषतया कविता में तो यह भी आवश्यक नहीं माना जाता कि सर्वसाधारण उसे समझ ही सकें। साधारण पाठक उसका अर्थ नहीं जान पाता। सभा-सम्मेलनों में कविता पाठ होता है, इनेगिने आदमी उसकी तारीफ करते हैं कुछ आदमी उनकी देखादेखी वाहवाह कर देते हैं। चाहे वे उसका मतलब न भी समझें।

कला के नाम पर साहित्यिक अपनी नितांत निरंकुशता का परिचय दे सकता है। वह चाहे जैसी अश्लील कविता करे, किसी को उसके विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार नहीं। अगर कोई कुछ कहेगा तो वह कला-प्रेमियों की निन्दा का भाजन बनेगा। आवश्यकता है कि कवि ऐसी तान सुनावें कि निराश जनता में आशा का संचार हो; आदमी आलस्य को छोड़ें और अपने कर्त्तव्य-कार्य में लगें। कहानी उपन्यास या नाटक ऐसे हों कि पाठक कुरीतियों और अंध-विश्वासों को छोड़ कर स्वतंत्र चिन्तन करने लगें, श्रम की महत्ता को समझें और बेकारी को दूर भगावें। इस समय हम आर्थिक पराधानता में फंसे हुए हैं; हमारे करोड़ों भाई बहिनों को खाने पहिनने को भी काफी नहीं मिल रहा है, उनके शिक्षा स्वास्थ्य आदि की तो बात ही क्या; हमें बहुत सी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाना है, ऐसे समय में उद्देश्यहीन (कलामय) साहित्य की चर्चा करना अनुचित है, अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करना है, दिमागी ऐयाशी है।

हे कलाकार! तुम सौन्दर्य-प्रेमी होने का दावा करते हो, क्या तुम्हें स्वतंत्रता में सौंदर्य का अनुभव नहीं होता? तो फिर क्यों नहीं देश की राजनैतिक, आर्थिक, मानसिक और सामाजिक स्वतंत्रता के लिए अपनी कला का उपयोग करते! हाँ, तुम्हारे लिए तो देश की भी सीमा नहीं रहनी चाहिए, तुम तो विशाल मानवता तक नजर दौड़ानेवाले हो।

आज मानव समाज कितना कष्ट-पीड़ित है, तनिक सोचो तो सही। यदि तुम्हें इन भाइयों के कष्टों से कुछ वेदना नहीं होती, यदि तुम्हारे चारों ओर हाहाकार होते हुए भी तुम अपने गाने-बजाने में ही लगे हो, तो मेरी समझ से तुम्हारा व्यवहार लोकोक्ति के उस नीरो नामक सम्राट् का सा है, जो रोम के जलते समय भी अपनी वंशी के संगीत का आनन्द ले रहा था। क्या यह संगीत कला का अंग समझा जायगा ? यह तो निष्ठुरता, और हृदयहीनता का राग है।

कला का लक्षण या आदर्श, 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' है। यदि किसी कार्य में केवल सौन्दर्य को ही प्रधानता दी जाय, और वह भी मनमाने ढग से. सत्य का कुछ थोड़ा सा आश्रय लिया जाय, और शिवम् अर्थात् लोक-कल्याण की उपेक्षा की जाय तो वह कार्य कदापि ऐसा नहीं जो मनुष्य के पशुत्व को हटाने और उसे मनुष्यत्व प्रदान करने में समर्थ हो। श्री० के० दामोदरन ने ठीक कहा है:—"जो चीज मनुष्य को ऊपर उठा सकती है. अनीति और अन्याय के आगे सिर उठाने के लिए जो चीज मनुष्य को प्रेरित करती है, अत्याचार और विषमता से भरे हुए समाज से लड़ने के लिए जो चीज मनुष्य को शक्ति और उत्साह प्रदान करती है, वही कला है। इसके अलावा और कोई कला नहीं। 'कला कला के लिए है', 'कला आनन्द है' – इस प्रकार के गलत विचार बहुधा धनिकों ने ही फैलाए है। यथार्थ कला के सौंदर्य को उन्होंने मिटा दिया। कला की वृद्धि और उन्नति तभी हो सकती है, जब सच्चे कला-प्रेमी लोगों के हाथ उसमें लग जायँ।" तुम सच्ची कला के प्रेमी बनो।

[१९]

राजनीतिज्ञ बननेवाले से

तुमने अपने कालिज-जीवन में राजनीति का खूब अध्ययन और मनन किया है। अब तुम राजनीति के क्षेत्र में ही काम करना चाहते हो। इस अवसर पर कुछ बातों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

प्राचीन काल में समाज का जीवन धर्म-प्रधान होता था, उस समय भी प्रत्येक राज्य अपनी आत्म-रक्षा तथा विकास के लिए राजनीति की उपेक्षा नहीं कर सकता था। उस समय भी राजनीति का महत्व बहुत था, यद्यपि यह धर्म के अन्तर्गत मानी जाती थी। अब तो इसका महत्व बहुत ही बढ़ा हुआ है। यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं है कि इस युग में राजनीति ही राष्ट्रों का जीवन है। जनता के सब कार्यों का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस देश की राजनीतिक दशा ठीक नहीं है, वहाँ के निवासी न समुचित रूप से शिक्षा पा सकते हैं, न साहित्य की यथेष्ट उन्नति कर सकते हैं, और न अपने स्वास्थ्य की ही ठीक रक्षा कर पाते हैं। आर्थिक उद्धार और समाज-सुधार का कार्य भी अब राज्य के आश्रित रहता है। पराधीन देश के निवासी अपने भोजन वस्त्र की ही चिन्ता में दिन काटते हैं; प्रायः उनकी स्वाभिमान, नैतिक उत्थान और धर्माचरण आदि की बातों में कोई तत्व नहीं रहता। खोई हुई स्वाधीनता को फिर हासिल करने, और प्राप्त स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिए राजनीति ही अचूक अस्त्र है; यही तप है, यही व्रत है, और यही पूजा-पाठ है।

हाँ, यह खेद का विषय है कि राजनीति का शुद्ध सात्विक और

प्रेममय रूप बहुत कम देखने में आता है। संसार के अधिकांश राज्यों में, अधिकांश समय जो राजनीति प्रचलित रही है, वह जनसाधारण को भूलभुलैया में डाल देनेवाली, और अच्छे-अच्छों की भी समझ में मुश्किल से आनेवाली विद्या रही है। श्री० भर्तृहरि ने तभी तो लिखा है 'राजनीति वेश्या की तरह अनेक रूप वाली होती है।' 'राजनीति' शब्द कूटनीति या कुटिल नीति का पर्यायवाची बन गया। सत्य और अहिंसा की इसमें गुजर नहीं होती। साधु स्वभाव, निष्कपट और दयालु सज्जन इससे बचते रहते हैं, वे इसे नमक की खान समझते हैं, जो इसमें सम्मिलित होगा, वही इसके रंग में रंग जायगा। आह! कैसी है यह राजनीति! इसका वास्तव में उद्देश्य क्या है, और अपने वर्तमान स्वरूप में यह इसे कहाँ तक पूरा करती है?

मनुष्य ने राज्य का निर्माण किया, राजनीति के नियम निश्चित किए। इसमें लक्ष्य यह रखा गया कि समाज अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति निर्विघ्न रूप से करता रहे। सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था रहे। राज्य के बाहरी आक्रमणों से रक्षा हो। और, उसके अन्दर प्रत्येक नागरिक अपना कार्य इस प्रकार करे कि उससे दूसरे नागरिकों के कार्य में कोई बाधा उपस्थित न हो। कोई आदमी राज्य का नियम भंग न करे; इस विषय में जो व्यक्ति अपराधी हो उसे दण्ड दिया जाय या उसका सुधार किया जाय। ये कार्य शान्ति-स्थापक कार्य कहे जा सकते हैं और प्रत्येक राज्य इन्हें करना आवश्यक समझता है। इनके अतिरिक्त नागरिकों की शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक, या आर्थिक उन्नति के कई प्रकार के लोकहितकर कार्य होते हैं, यथा शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-रक्षा, यातायात के साधनों की उन्नति, आर्थिक हित साधन आदि। राज्य इन कार्यों में से किस-किस को करे, और कहाँ तक करे, इसका विचार देशकाल की परिस्थिति के अनुसार किया जाता है।

राज्य के इन कार्यों से किसी को कुछ आपत्ति नहीं होती। आपत्ति

तो इन कार्यों के करने की विधि में है, इस बात में है कि राजनीति के नियमों का प्रयोग किस प्रकार किया जाय। प्रत्येक राज्य अपने ही नागरिकों के हित का ध्यान रखता है, और कभी-कभी तो उनमें भी भेदभाव रखता है। सभ्यता का दम भरनेवाला अमरीका अपने यहाँ के हबशियों से दुर्व्यवहार करता है। दूसरे राज्यों के नागरिकों को तो सभी पराया या गैर समझते हैं; उनकी हानि करने में किसी को कुछ संकोच नहीं होता। अपने और पराए का भेद सब कलह का मूल है। जब प्रत्येक राज्य के राजनीतिज्ञ अपने-अपने राज्य या जाति की स्वार्थ-सिद्धि में लगे होते हैं तो उन। परस्पर में विरोध और संघर्ष होने वाला ही ठहरा। फिर, कोई राज्य सुख-शान्ति का उपभोग कैसे कर सकता है!

प्रत्येक राज्य ईर्ष्या और लोभ में बुरी तरह ग्रस्त है, उसे दूसरों की उन्नति नहीं सुहाती। वह दूर-दूर तक अपना प्रभुत्व जमाने की लालसा में, दूसरों की स्वाधीनता अपहरण करने की फिकर में, रहता है। प्रायः राजनीतिज्ञ का मूल मन्त्र यह होता है कि मेरा राज्य जो कुछ करे सो ठीक, जिस प्रकार उसकी स्वार्थसिद्धि हो, वही उचित मार्ग है। अधिकांश राजनीतिज्ञों में साहस नहीं होता कि अपने राज्य की अनीति का विरोध करें। अगर कोई ऐसा करता भी है, तो उसकी सुनवाई नहीं होती, और वह निराश होकर मौन धारण कर लेता है।

अपने राज्य में ही राजनीतिज्ञों का कैसा व्यवहार होता है! तनिक आजकल के निर्वाचनों का विचार कीजिए। मेम्बरी के उम्मेदवार कैसी-कैसी चालें चलते हैं, और मतदाताओं पर किस तरह अनुचित प्रभाव डालते तथा उन्हें विविध प्रलोभनों में फँसाते हैं। उनका सिद्धान्त ही यह होता है कि अपनी विजय के लिए कोई भी उपाय काम में लाया जाय, उसमें उचित-अनुचित की बात सोचनी नहीं चाहिए। चालाक उम्मेदवार (या उनके एजंट) विजयी होने के लिए जनता में क्षुद्र और संकुचित भावों का प्रचार करने में तनिक भी परहेज

नहीं करते। भिन्न-भिन्न राजनीतिक दल (तथा उनके समाचार-पत्र) निर्वाचकों में तरह-तरह की झूठी सच्ची अफवाहें फैलाकर, अथवा उन्हें विविध प्रकार से धोखा देकर अपने-अपने उम्मेदवारों की विजय का प्रयत्न करते हैं। इन कुटिल प्रयत्नों के सहारे राजनीतिज्ञ व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य बनते हैं, और फिर मन्त्री बनने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सदस्य या मन्त्री बन कर ऐसे आदमी अपनी कूटनीति का और भी अधिक परिचय देते हैं।

प्रायः राजनीतिज्ञ दूसरे देशों को 'आर्थिक उन्नति के लिए' अपने राज्य की ओर से ऋण देते हैं, उनके यहाँ रेल, तार, डाक आदि यातायात के साधन बढ़ाते हैं। परन्तु इसमें उनका वास्तविक उद्देश्य दूसरे देशों का शोषण करना और उनके कच्चे पदार्थों को अपने लिए सुरक्षित करना होता है। जब ये राजनीतिज्ञ दूसरे देशों में शिक्षा का प्रचार करते हैं, तो ये असल में वहाँ के आदमियों को अपनी सभ्यता का भक्त और अपना दासानुदास बनाने के प्रयत्न में होते हैं! ये 'अल्पसंख्यक हितों की रक्षा' के नाम पर वहाँ के निवासियों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के हितों या वर्गों में फूट डालते हैं; फूट डालकर अपना शासन दृढ़ करने में ये खूब कुशल होते हैं। कुछ लोगों को पदवियाँ देकर, कुछ को जागीरें देकर कुछ को सरकारी नौकरी आदि देकर ये देश के बहुत से आदमियों को खरीद लेते हैं और उनके सहयोग से अपनी हुकूमत की गाड़ी बेरोक-टोक चलाते रहते हैं। इनके अधीन देशों में जो विभूतियाँ इनके बहकाए में नहीं आतीं, इनके कूट रहस्यों का भंडा-फोड़ करने का साहस करती हैं, उन्हें देश-रक्षा या देश-हित आदि के नाम पर नजरबन्दी, जेल या कालापानी आदि का मजा चखाते हैं। परमात्मा इन देश-रक्षा और देश-हित करनेवाले राजनीतिज्ञों से संसार की रक्षा करे।

हे राजनीतिज्ञ! कैसी है, तुम्हारी राजनीति! यदि उसका उद्देश्य मानव समाज की सुख-शान्ति और उन्नति है, तो क्या उसमें महात्मा,

स्वार्थत्यागी, सत्पुरुषों का स्थान नहीं है ! असल में ये ही तो वे लोग हैं, जो राजनीति का उद्देश्य पूरा कर सकते हैं; और तुम इन्हें दूध में से मक्खी की तरह अलग रखते हो ! तुम्हारी राजनीति के कुटिल स्वरूप को देखकर ये सज्जन स्वयं ही इससे दूर रहना चाहते हैं। याद रखो, ऐसी नीति को क्षणिक सफलता भले ही मिले, अंत में वह विफल मनोरथ होकर रहेगी। तुम्हारा प्रेमहीन शासन और भयोत्पादक नीति केवल थोड़े से समय के लिए कुछ चमत्कार दिखा सकती है। पीछे सदा के लिए वह शासकों और उनके सहयोगियों पर अपना ज़हरीला प्रभाव छोड़ देती है। वे अविश्वासी और भयभीत होने लगते हैं, कोई भला आदमी उनका साथ नहीं देता ! इस प्रकार जनता के उस कल्याणकारी सहयोग का, जिस पर शासन की नींव खड़ी हुआ करती है, क्षय हो जाता है, शासन-यंत्र के पुर्जे अपना कार्य पूरा करने में असमर्थ रहते हैं, और मशीन रद्दी हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि जब तक राजनीति में महात्मा और साधु-स्वभाव महानुभावों को यथेष्ट स्थान न मिलेगा, वास्तविक उद्देश्य सिद्ध न होगा। जो विजय या सफलता होगी वह क्षणिक ही रहेगी। स्थायी सफलता के लिए राजनीति का कायाकल्प करना होगा; यह मंत्र ग्रहण करना होगा कि जिस प्रकार समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है, उसी प्रकार संसार के कल्याण में ही किसी राज्य का कल्याण है। जैसे व्यक्तियों को अपने-पराए का भेद हटाना है, उसी तरह राज्यों को भी अपने और पराए का भेद हटाना है। मानव जाति की उन्नति सत्य और अहिन्सा से होगी। शासन की बागडोर धूर्त राजनीतिज्ञों के हाथ में न रह कर त्यागशील कष्ट सहनेवाले निर्लोभी और परोपकारी सज्जनों के हाथ में रहनी चाहिए। हिन्सा और दमन का स्थान प्रेम और सेवा को मिलना चाहिए। इस दृष्टि से संहारकारी सैनिकों की जगह सत्याग्रही स्वयंसेवकों को मिलेगी, और शासन के सभी विभागों में हेरफेर

होगा। हे राजनीतिज्ञ! तुम नवयुग के इस संदेश को सुनने के लिए ही नहीं, इसे अमल में लाने के लिए भी तैयार हो!

तुमने अब तक एक खास तरह का राजनीतिशास्त्र अध्ययन किया है। तुम्हें शरीर-बल (पाशविक शक्ति) और शस्त्रास्त्रों द्वारा किए जाने वाले दमन और आतंक का भरोसा रहा है। अब तुम्हें नया पाठ पढ़ना है; धर्म त्याग, और बलिदान की महिमा सीखनी है। यह तुम्हें अरुचिकर और अटपटा प्रतीत होगा, परन्तु मानव जाति के शुभ भविष्य के लिए और स्वयं अपने आत्मोद्धार के लिए तुम्हें उसका स्वागत करना चाहिए। निश्चय करो, अब राजनीति कुटिल नीति न हो, धर्मनीति हो; दमन-नीति न होकर प्रेम-नीति हो। तभी तुम्हारा नीतिज्ञ होना सार्थक होगा।

—०—

[२०]
भावी संसार

भावी नागरिको! तुम्हारा यह काम है, तुम्हारे ऊपर इस बात की जिम्मेवरी है कि इस संसार को सुख और शान्ति की जगह बनाओ। इसके लिए यह ज़रूरी है कि तुम्हारे सामने भावी समाज का एक निश्चित और स्पष्ट चित्र रहे, जिसके अनुसार तुम्हें इस संसार में आवश्यक सुधार करने में मदद मिले। यहाँ भावी समाज-नीति की कुछ रूप-रेखा दी जाती है।

शिक्षा—शिक्षा का उद्देश्य यह है कि आदमी अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास करे; वह पशुओं की तरह अपने स्वार्थ साधन में न लगा रह कर, समाज के हित में लगे।

उसका पशुपन दूर हो, और उसमें मानवता या इनसानियत बढ़े। भावी संसार में हरेक आदमी तन्दुरुस्त, हृष्टपुष्ट, स्वतन्त्र रूप से विचार करनेवाला, स्वाधीन जीवन बितानेवाला, अन्धविश्वासों से दूर, श्रम या मेहनत का आदर-मान करनेवाला, स्वावलम्बी, निडर, और दूसरों की सेवा और सहायता में आनन्द लेनेवाला होगा।

धर्म—धर्म वह है, जो आदमी को दूसरे सब आदमियों का भाई और मित्र बनावे; न कि लोगों में अपने पराए, नीच ऊँच, काले गोरे, छूत और अछूत आदि की भावना पैदा करे। कोई अवतार, पीर, पैगम्बर अपने समय का सुधारक या नेता होता है, उसकी सब बातों से आदमी सदा के लिए नहीं बँधने चाहिएँ। भावी समाज किसी भी धर्म-पुस्तक के सब वाक्यों को आँख मीच कर मानने के लिए मजबूर न होगा। भावी संसार में ईश्वर या परमात्मा कुछ खास-खास इमारतों—मन्दिर, मसजिद या गिरजा आदि—में न माना जायगा। उसके दर्शन हर जगह, हर एक आदमी में होंगे। प्रत्येक नागरिक का आदर्श वाक्य यह होगा—'यह दुनिया मेरा देश है, और नेकी करना मेरा धर्म है।'

अर्थनीति—भावी संसार में अमीरी और गरीबी का, पूँजीपति और मजदूर का, जमींदार और किसान का भेदभाव सहन न होगा। सब आदमियों में समानता और भाईचारा होगा। न तो किसी आदमी को अपने भोजन-वस्त्र, रहने को जगह, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि साधनों की कमी रहेगी और न कोई इनका दुरुपयोग या फ़ज़ूलखर्च ही करेगा। पैदावार का उद्देश्य जनता की ज़रूरतें पूरी करना होगा, न कि मुनाफा कमाना; इसलिए नशे, विलासिता और ऐयाशी की चीज़ें नहीं बनाई जायँगी। हिन्सक युद्ध-सामग्री की भी जरूरत न रहेगी। वितरण की विषमता दूर हो जायगी। सर्वसाधारण को उपयोगी चीजें देना, उनकी सेवा और सहायता करना, अर्थनीति का ध्येय होगा।

विज्ञान—भावी संसार में विज्ञान के आविष्कारों और यन्त्रों पर

मुट्ठी भर धनवानों या सत्ताधारियों का अधिकार न होगा। विज्ञान का प्रकाश हर एक देश के जनसाधारण तक पहुँचेगा। वह लोगों के जीवन-निर्वाह, स्वास्थ्य और चिकित्सा का साधन होगा, उससे सर्वसाधारण के अभाव दूर होंगे। इसके अलावा आदमी केवल भौतिक विज्ञान में न लगा रहेगा, वह मानसिक और आध्यात्मिक विज्ञान की ओर भी काफी ध्यान देगा। और, इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए, अपनी आवश्यकताओं को जहाँ तक बने कम रखेगा। उसका आदर्श 'सादा जीवन और उच्च विचार' होगा।

राजनीति—भावी संसार में राजनीति का अर्थ कूटनीति, और शासन का अर्थ आतंक या दमन न होगा। प्रत्येक राज्य में प्रबन्ध, कानून-निर्माण और न्याय विभागों के सूत्रधार लोकसेवी, परोपकारी न्यायशील महानुभाव होंगे, जिनके रोम-रोम में विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व की भावना होगी। अंधाधुन्ध जन-संहार करनेवाली सेनाओं का स्थान सत्याग्रही, अहिंसक स्वयंसेवक लेंगे, जो अपनी जान पर खेल कर भी दूसरों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझेंगे। कोई राज्य दूसरे के अधीन न होगा, सब समान रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और नाजीवाद इतिहास की गई-गुजरी बातें होंगी; सब राज्यों का आपस में सहयोग और सहानुभूति होगी, सब एक विश्व-संघ के सदस्य होंगे, जिसके बारे में हमने विस्तार से 'विश्व-संघ की ओर' पुस्तक में लिखा है। सब की नीति 'जीओ और जीने दो' होगी। सब की मनोकामना यह रहेगी कि हमारे जीवन से दूसरों को भी जीवन मिले, हमारा सुख सब को सुख देनेवाला हो।

भावी नागरिको! यह कुछ मामूली सी रूपरेखा है उस भावी संसार की, जो आपको बनाना है। कार्य महान है, तुम उसके योग्य बनो; परमात्मा तुम्हारी मदद करेगा। शुभम्

———

भारतीय ग्रन्थमाला

भारतीय शासन (नवाँ संस्करण) ... १॥)
भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा संस्करण) ... ॥=)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (आठवाँ संस्करण) ... १॥)
हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा संस्करण) २)
भारतीय सहकारिता आदोलन (तीसरा संस्करण) ... ३॥)
भारतीय जागृति (चौथा संस्करण) ... २)
निर्वाचन पद्धति (चौथा संस्करण) ... ॥।)
नागरिक कहानियाँ ... ... ॥=)
राजनीति शब्दावली (तीसरा संस्करण) ... २॥)
नागरिक शिक्षा (पाँचवाँ संस्करण) ... १।)
ब्रिटिश साम्राज्य शासन (चौथा संस्करण) ... १।)
अर्थशास्त्र शब्दावली (तीसरा संस्करण) ... १॥।)
कौटल्य के आर्थिक विचार (तीसरा संस्करण) ... २)
अपराध चिकित्सा ... १॥) पूर्व की राष्ट्रीय जागृति ... १॥)
भारतीय अर्थशास्त्र (चौथा संस्करण) ... ४)
साम्राज्य और उनका पतन (दूसरा संस्करण) .. २॥)
मातृवन्दना (चौथा संस्करण) ... ॥)
देशी राज्य शासन (दूसरा संस्करण) ... ३॥)
विश्व-सङ्घ की ओर ... २॥)
भावी नागरिकों से (दूसरा संस्करण) ... १॥)
इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति ... १)
मनुष्य जाति की प्रगति ... ३॥)
गाँव की बात (दूसरा संस्करण) ... ॥)
नागरिक शास्त्र (दूसरा संस्करण) ... २।)
देशी राज्यों की जन-जागृति ... ५)
व्यवसाय का आदर्श ... १)

भगवानदास केला, भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, प्रयाग